वर्ष–5, अंक–10
इंटरनेट संस्करण : 109

पत्रिका गर्भनाल

प्रवासी भारतीयों की मासिक पत्रिका

ISSN 2249–5967
दिसम्बर 2015

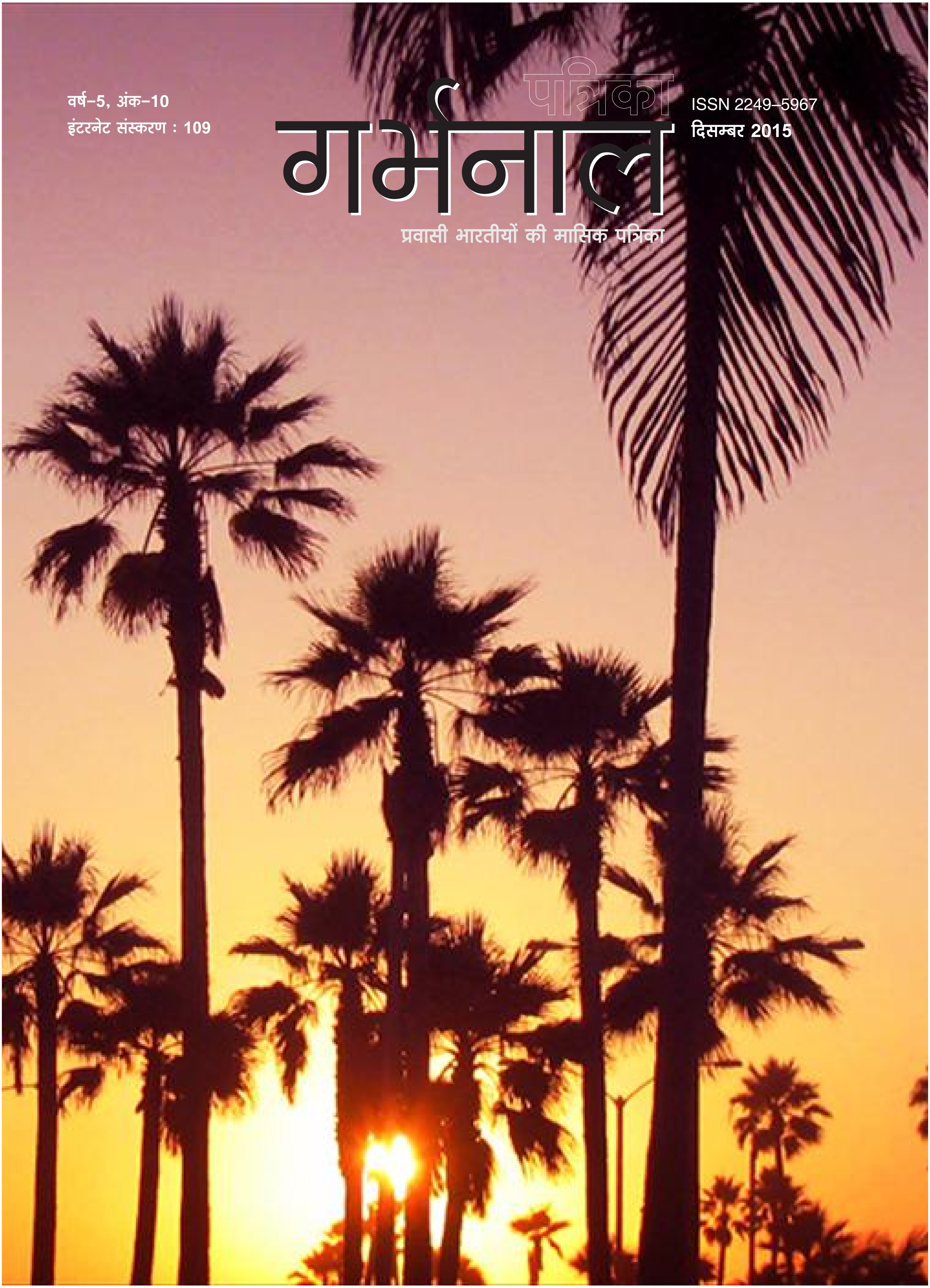

पत्रिका
गर्भनाल

वर्ष-5, अंक-10 (इंटरनेट संस्करण : 109)
दिसम्बर 2015

सम्पादकीय सलाहकार
गंगानन्द झा

परामर्श मंडल
डॉ. दिनेश श्रीवास्तव, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
देवेश पंत, अमेरिका
उमेश ताम्बी, अमेरिका
बी.एन. गोयल, कनाडा
आशा मोर, ट्रिनिडाड
डॉ. अनिल विद्यालंकार, भारत
डॉ. ओम विकास, भारत
डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, भारत

सम्पादक
सुषमा शर्मा

तकनीकि सहयोग
डॉ. राजीव यादव, न्यूयार्क

आकल्पन सहयोग
डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

कम्पोजिंग
प्रताप परिहार

कानूनी सलाहकार
संजीव जायसवाल

सम्पर्क
डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

आवरण छायाचित्र
साभार - गूगल

प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, जरूरी नहीं है कि सम्पादक इससे सहमत हों. विवाद की स्थिति में केवल भोपाल न्यायालय क्षेत्र ही रहेगा.

>>4
आतंकवाद और यूरोप की पहचान

>>21
पुरस्कार प्रकरण : साजिश भी नियति भी

>>24
का हो फलाने, का हालचाल बा?

>>48
दीपों के पर्व पर घर की याद

इस अंक में

अपनी बात :	गंगानन्द झा	2
सामयिक :	डॉ. हाइंस वेर्नर वेसलर	4
	राधेकांत दुबे	6
बीच बहस :	लाल्टू	8
	डॉ. ओम विकास	11
	डॉ. हरि जोशी	13
	डॉ. कृष्ण कुमार	15
	ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव	17
	अंशु जौहरी	20
	प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी	21
मन की बात :	गुलाबचंद यादव	24
	जितेंद्र जायसवाल	26
	सन्त समीर	29
तथ्य :	सुषमा गुप्ता	34
बैठे-ठाले :	गं. झा	36
ज्ञान की बात :	ज्ञान चतुर्वेदी	39
अनुवाद :	बी.मरिया कुमार	41
रम्य-रचना :	सुधा दीक्षित	44
ज़न्नत की हकीकत :	रमेश जोशी	46
शिकागो की डायरी :	अपर्णा राय	48
सिंगापुर की डायरी :	सन्ध्या सिंह	50
चीन की डायरी :	डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा	51
हमारा समय :	ध्रुव शुक्ल	54
नजरिया :	उदयन वाजपेयी	56
परख :	प्रभु जोशी	58
विचार :	अपूर्वानंद	60
व्याख्या :	मनोज कुमार श्रीवास्तव	62
कविता :	कामिनी कामायनी	68
शायरी की बात :	नीरज गोस्वामी	69
आख़िरी बात :	आत्माराम शर्मा	70

नरक के यातनागृह में उनके लिए स्थान आरक्षित रहता है जो नैतिक संकटकाल में चुप्पी साधे रहते हैं।

— दाँते

इस बार अपनी बात में कुछ निजी बातें। मैं तब की बात कर रहा हूँ जब मेरी सेवानिवृत्ति में कुछ ही समय रह गया था। कॉलेज में विश्व विद्यालयीय परीक्षा के दौरान स्थानीय नवयुवक विधायक के उपद्रव के विरोध में मैंने अपने शिक्षक संघ की बैठक में सक्रिय भागीदारी की थी। इसके बाद मुझे संकेत मिल रहे थे कि मेरे ऊपर हमले हो सकते हैं, विधायक पेशेवर अपराधी था और महत्वाकांक्षी भी। मैं आशंकित तो था, पर प्रतीक्षा करने के अलावे कुछ नहीं कर सकता था। फिर एक दिन हस्बेमामूल मैं कॉलेज के अपने विभाग के कार्यालय में सहकर्मियों के साथ बैठा बात कर रहा था। दरवाजे पर तीन चार विद्यार्थीनुमा लड़के आए और बड़े अदब से मुझे बुलाया। मैं आशंकित होने के बावजूद उनके निकट गया। ज्यों ही दरवाजे से बाहर आया था कि उनमें से एक ने पुकारा, मार गोली और फिर शायद देशी पिस्तौल की बट्ट से मेरे सर के किनारों पर प्रहार करने लगे। मैं और मेरे सहकर्मी किंकर्तव्यविमूढ़ थे। मेरा चश्मा गिर गया और सर से खून टपकने लगा। इसके बाद वे लोग – चलो — कहते हुए निकल गए। बरामदे में कुछ छात्र इकट्ठा होकर हैरत से देख रहे थे और सन्नाटा छा गया। मैं चश्मा उठाकर धीरे से वापस अपनी जगह पर आ बैठा।

एक बात की ओर मेरा ध्यान गया। कॉलेज प्रांगण में दिन के वक्त प्रहार करने की व्याख्या कैसे की जा सकती है। मैं तो मित्रों के साथ अड्डेबाजी करने के बाद देर शाम को अकेला अपने निवास पर लौटा करता था। सड़क का बड़ा-सा भाग उस समय सुनसान रहता था। कभी भी मेरे ऊपर हमला किया जा सकता था, फिर भी उन्होंने यह योजना क्यों बनाई। एक ही व्याख्या हो सकती थी। मुझे सबक सिखाने से अधिक महत्व उनके लिए जनता को संदेश देना था। साथ ही जनता की नब्ज टटोलनी भी थी कि उस अपराधी की राजनीतिक महत्वाकांक्षा को कितने तथा किस तरह के प्रतिरोध और सहयोग का सामना करना होगा। एक घंटे बाद स्थानीय दारोगा मेरे घर पर आए और मुझसे एफ.आई.आर. दर्ज करने का अनुरोध किया। मैंने इसकी कोई उपयोगिता नहीं समझी। मैंने उनसे कहा कि आप आज की घटना को रोक सकते थे, क्योंकि यह होनेवाला है, इसकी जानकारी संबद्ध लोगों को थी। प्रशासन तथा समाज का तो सामान्य कर्तव्य है कि शिक्षकों, शिक्षण संस्थाओं को सुरक्षा प्रदान करे। मैं प्रतिवाद स्वरूप एफ.आई.आर. नहीं कर रहा, इसके लिए आप मुझे सजा का भागी बना सकते हैं। मात्र औपचारिकता निभाने की सुविधा मैं प्रशासन को देने से इनकार करता हूँ। इसके कुछ दिनों के बाद एक दिलचस्प वाकया हुआ। हम लोग शहर से बाहर गए हुए थे तभी हमारे आवास पर रात में ताला तोड़कर चोरी हुई। पर चोरों ने मूल्यवान चीज़ें न उठाकर सामान को तितर-बितर कर किया और कुछ साधारण सी चीजें उठा ले गए। साफ जाहिर हो रहा था कि वे महज अपना आतंक प्रदर्शित तथा स्थापित करना चाहते थे। मैं इस अनुभव के बाद भी करीब चार साल नौकरी में सामान्य रूप से बना रहा, मेरे साथ व्यक्तिगत रूप से कोई छेड़छाड़ नहीं हुई, हालाँकि मैंने भी अपनी चाल नहीं बदली थी।

उपरोक्त घटना के बाद कॉलेज और शहर में सन्नाटा व्याप्त था। कॉलेज में तत्काल अवकाश घोषित कर दिया गया। हमारे शिक्षक संघ अथवा अन्य किसी संगठन ने प्रतिवाद की आवाज नहीं उठाई। अखबारों तथा अन्य संवाद माध्यमों में इस घटना का कोई जिक्र नहीं आया। पटना के दो राष्ट्रीय स्तर के अखबारों के सम्पादकों से व्यक्तिगत सम्बन्ध होने की वजह से उन्होंने अवश्य अपने

> चन्द्रशेखर में प्रतिवाद, प्रतिरोध और प्रतिवाद के संस्कार विकसित होने में, मैं अपनी भागीदारी से इनकार नहीं कर सकता था। मुझे लगता रहा कि कहीं हम ही तो उसकी हत्या के जिम्मेदार नहीं? अगर शिक्षकों, छात्रों ने उसी दिन प्रतिवाद किया होता तो, बहुत सम्भव, बात कुछ और होती।

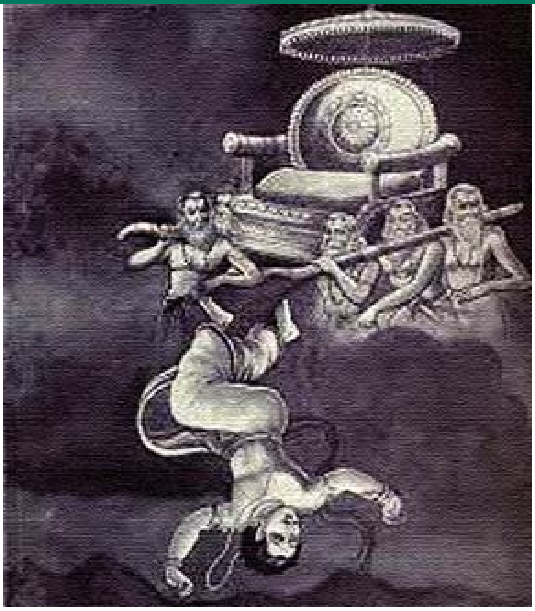

अपनी बात

प्रतिष्ठित साहित्यकार यशपाल के उपन्यास दिव्या को पढ़ते हुए ध्यान जाता है कि जब नई संस्कृति सत्ता पर आसीन होती है तो स्थापित विचारकों को विस्थापित होने का खतरा झेलना पड़ता है। विश्लेषक अलग-अलग कोणों से इसे समझने और समझाने की कोशिश कर रहे हैं। एक वर्ग इसे असहिष्णुता का दौर मानता है तो एक अन्य मत के अनुसार मौजूदा संकट हमारी बढ़ी हुई संवेदनशीलता के कारण है। इनके विपरीत एक वर्ग का मानना है कि कोई असामान्य स्थिति या संकट नहीं है। बस, सत्ता की नई संस्कृति को स्वीकृति नहीं देने का हठ है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक संकटों की कथाएँ है, जिनमें अध्ययन-अध्यापन में लगे ऋषि-मुनियों पर हमले हुए हैं। इन कथाओं में यह भी बताया गया है कि हर बार ये हमले अन्ततोगत्वा असफल रहे हैं ।

उनमें से एक कथा प्रसिद्ध चंद्रवंशी राजा पुरुरवा के पौत्र प्रतापी राजा नहुष की है। वे अपने पुण्य के जोर से इन्द्र के पद पर आसीन हुए थे। लेकिन उसके बाद देवताओं के षड़यन्त्र का शिकार हो गए, उनको मतिभ्रम हो गया। उन्होंने ऋषियों को अपनी पालकी का वाहक बनने को बाध्य किया। इस पर अगस्त्य मुनि ने क्रोधित होकर उसे शाप दे दिया, 'मूर्ख! तेरा धर्म नष्ट हो और तू दस हज़ार वर्षों तक सर्पयोनि में पड़ा रहे।' ऋषि के शाप देते ही नहुष सर्प बन कर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

क्या इस प्रसंग को आज बुद्धिजीवियों के विरुद्ध चल रहे अभियान को बेनकाब करने के लिए सहायक माना जा सकता है? सप्तर्षि इन्द्र के पालकीधारी न बनें तो उन्हें लात मारी जाएगी।

अन्त में : इस अंक के 'बीच-बहस' कॉलम में असहिष्णुता, असहमति एवम् पुरस्कार वापसी जैसे सम-सामयिक मुद्दों पर विभिन्न नजरिए पेश किए जा रहे हैं। विवेचकों के अवलोकन एवम् निष्कर्ष पृथक हो सकते हैं। पाठक तक इन्हें पहुँचाना हमारा दायित्व है। इसके बाद का काम उनका है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान करना हमारा धर्म है, सहमति-असहमति निजी धारणा हो सकती है। ■

gangananand.jha@gmail.com

प्रतिनिधि भेजकर इस संवाद को प्रमुखता से प्रकाशित किया। लेकिन स्थानीय स्तर पर लोग आपसी बातचीत में भी सहमे रहते थे। विधायक का दबदबा प्रामाणिकता पाने में सफल रहा। अपराधी तत्वों को राजनीति में स्थापित और सम्मानित होने की राह हमवार हो गई। विधायक अगले साधारण निर्वाचन में सांसद बन गया। पाँच साल बीतते-बीतते जे.एन.यू. छात्र संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष चन्द्रशेखर की शहर के मुख्य चौक पर सरेआम हत्या हुई। चन्द्रशेखर में प्रतिवाद, प्रतिरोध और प्रतिवाद के संस्कार विकसित होने में, मैं अपनी भागीदारी से इनकार नहीं कर सकता था। मुझे लगता रहा कि कहीं हम ही तो उसकी हत्या के जिम्मेदार नहीं? अगर शिक्षकों, छात्रों ने उसी दिन प्रतिवाद किया होता तो, बहुत सम्भव, बात कुछ और होती।

आज हम एक दिलचस्प कालखंड से रूबरू हैं। हमारे समाज में साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक प्रबुद्ध जनों की प्रासंगिकता पर सवाल उठ रहे हैं। 'अवार्ड वापसी' जैसे जुमलों से उनको तुच्छ और उपहासास्पद दिखाने की कवायद चल रही है। हिन्दुत्व और जाति पर आधारित संगठनों द्वारा अपने उपन्यास माधोरुभगन को लेकर परेशान किए जा रहे तमिल लेखक पेरुमल मुरुगन ने घोषणा की है कि वे लेखन का पूरी तरह से त्याग कर रहे हैं। उन्होंने अपने फेसबुक पन्ने पर लिखा 'लेखक पेरुमल मर गया है। चूँकि वह भगवान नहीं है, वह अपना पुनर्जन्म नहीं कर सकता। पुनर्जन्म में वह विश्वास भी नहीं करता। एक साधारण शिक्षक की पहचान में वह पेरुमल मुरुगन के रूप में जीवित रहेगा। उसे अपने हाल पर छोड़ दें।'

डॉ. हाइंस वेर्नर वेसलर

१९६२ में जर्मनी के डसलडर्फ़ शहर में जन्म। बॉन विश्वविद्यालय से एम.ए. तथा डीलिट, स्विटजरलैंड के सूटिश विश्वविद्यालय से संस्कृत में पीएचडी की उपाधि प्राप्ति की। कुछ समय तक पत्रकारिता में भी सक्रिय रहे एवं अंतर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस सोसायटी के लिये भी काम किया। हबीब तनवीर के नाटक 'आगरा बाजार' एवं उदयप्रकाश का उपन्यास 'पीली छतरी वाली लड़की' का जर्मन में अनुवाद प्रकाशित। विश्व हिंदी सम्मान-२०१५ से सम्मानित। सम्प्रति : उपसला विश्वविद्यालय, स्वीडन में हिन्दी पढ़ाते हैं।

सम्पर्क : heinzwerner.wessler@gmail.com

सामयिक

आतंकवाद और यूरोप की पहचान

मुंबई के २००८ के आतंक के बाद से पूरी दुनिया जानती है कि कुछ ही लोगों का एक दल अस्त्र-शस्त्र लेकर मामूली आबादी में क़त्ले आम की तरह खूनखराबे कर सकता है। एक दल जो आम आबादी को काफिर और मरने के लायक मानता है एवं जिसका मौत से कोई डर नहीं है। हम को एक तरह से मालूम था कि यह सब जो २००८ में मुंबई में हुआ हमारे यहाँ यानी यूरोप में भी मुमकिन है। पर इस बीच में Charlie Hebdo के हमले के बाद जो हैरानी शुरू हुई वह किसी तरह से कुछ वक़्त के बाद अपने आप से मिट गई।

पेरिस में १३ नवंबर की हत्याओं ने इन्हीं यादों को दुबारे और झटके से हमारे सामने रखा। इन दिनों तक हमारे सामने तस्वीर पूरी नहीं है कि कौन से लोगों ने यह सब क्यों किया और निष्कर्ष क्या है। पर हैरानी तो बहुत है। जो हुआ वह हमारे बीच में हुआ, न भारत में, न अफ्रीका में न किसी दूसरे दूर के मुल्क में। हत्यारों की यह घृणा कैसी हो सकती है? हाँ, हम पहले से जानते हैं कि आतंकवादियों के बीच में अलग-अलग किस्म के लोग हैं। ऐसे नौजवान लड़के और लड़कियां जिनका जनम यूरोप में हुआ और ये किशोर होकर सीरिया जाकर युद्ध करने के अलावा कुछ नहीं सोचते। ऐसे लोग जिनके परिवार हैं, बच्चे हैं यूरोप में और आखिरी दिनों तक एक मामूली ज़िन्दगी जीते हैं। और साथ में मामूली गुंडे लोग जो अचानक अपने को बड़े भक्त समझकर दीन के नाम पर काफिरों का खून पीने में मस्ती लेते हैं। और यह भी डर है कि शरणार्थी का भेस पहनकर आईएसआईएस के आत्मघाती हमलावर घुस रहे हैं - अगर इस बार नहीं तो अगली बार शायद।

यूरोप के नागरिकों की समझ में धीरे-धीरे यह तत्त्व आ रहा है कि भविष्य में भी हर वक़्त आतंक साया हो सकता है। इन हत्याओं का क्या असर हो रहा है हमारे साथ? बेशक रक्षा और प्रतिरक्षा की चिंता बढ़ती जा रही है जिस तरह से इजराइल में बढ़ चुकी है पिछले दशकों में। इजराइल अपनी सीमाओं पर दीवारें बना रहा है, न सिर्फ वेस्ट बैंक में, पर गोलान पर भी, मिस्र की सीमा पर भी, और इन दिनों जॉर्डन की सीमा पर भी। क्या इजराइल का तत्काल यूरोप का भविष्य है? क्या भविष्य में यूरोप अपने को किले के रूप में बदलता है? भारत भी पाकिस्तान और बांग्लादेश की सीमा पर इस तरह से एक दीवार बना रहा है, जो न आतंकवादी न शरणार्थी पार कर सकते हैं। हाय रे, हम मानते हैं कि यह हमारा युग वैश्वीकरण का है, पर आतंकवाद की वजह से हम अपने घर के दरवाज़े खोलने की जगह पर बंद करते हैं!

क्या अब अपनी शक्ति दिखने एवं युद्ध करने का वक़्त आ रहा है, जिस तरह से फ्रांस के राष्ट्रपति Francois Hollande ने अपने १४ नवंबर के भाषण में घोषित किया था - बिलकुल उसी तरह जिस तरह से २००१ में जॉर्ज बुश ने युद्ध की घोषणा की थी जब अमरीकन फ़ौज ने अफ़ग़ानिस्तान के खिलाफ और बाद में इराक के खिलाफ आक्रमण किया। आज यानी २०१५ में अमरीका के राष्ट्रपति ओबामा भी

सबसे ज़रूरी यह है कि हमारी उम्मीद ख़तम न हो कि हम इस अँधेरे में अपनी ओर से थोड़ी सी रौशनी लाकर जिएँ। जब तक हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि आखिर में रौशनी जीत लेगी अँधेरे को, तब तक आतंकवाद की जीत नहीं होगी।

समझते हैं कि कम से कम इराक की लड़ाई एक बड़ी गलती थी। इस लड़ाई ने आतंकवाद को बुरी तरह से प्रोत्साहित भी किया। पर सवाल उठता है कि क्या हम शांति ढूंढ़ने की जगह पर भविष्य में अपनी आतंकवाद के खिलाफ रणनीति को आगे बढ़ाने की सोच में फंसते रहेंगे? कुछ लोग कहते हैं कि हमको पहले से मालूम था कि इस्लाम अपने आप में खतरनाक है। इस्लाम के नाम पर ऐसा बहुत कुछ हो ही सकता है। और कुरान अश्शरीफ से इधर-उधर की पहेलियों का उल्लेख करके अपने तर्क प्रामाणिक बनाकर रखा जा सकता है। पर उसी वक़्त कुरान अश्शरीफ ५,३२ में यह भी लिखा है कि जो भी एक बेकसूर इंसान का क़त्ल करता है वह पूरी इंसानियत को क़त्ल करता है। हत्या के बाद फ्रांस के मुसलमानों के धार्मिक संगठन ने इन पंक्तियों पर ज़ोर लगाकर घोषणा-पत्र में दहशतगर्दी के खिलाफ फ़तवा निकाला।

हरेक धर्म के ग्रंथों में ऐसी प्रतिद्वंद्विताएं उभर कर सामने आती हैं। अक्सर ही मेरा इस सवाल से सामना होता है कि हिंदू धर्म के भगवान विष्णु को नरसिंह का अवतार लेकर हिरण्यकश्यपु को एक खास तरह से मारने की क्या ज़रूरत थी। भगवान की समझाइश भरी बातें सुनते-सुनते हिरण्यकश्यपु भी सही क्यों नहीं बन सका। इसी प्रकार परशुराम को पूरे क्षत्रिय वर्ण को मिटाने की क्या ज़रूरत थी। क्या भगवान ने यह नहीं सिखाया कि क्रोध जैसी भावनाओं को दबाना ही सही है। बाइबिल में भी ऐसी बहुत-सी कहानियां हैं जिनसे पता चलता है कि भगवान भी गुस्से में आ जाते हैं और इनके सबसे प्रिय भक्त भी। पहले पैगम्बर एलिअह ने सैकड़ों 'बाल' देवता के पुजारियों का क़त्ल करवाया। इन सारे कथानकों का आदेश यह तो नहीं है कि हम भी अपनी मर्ज़ी से अस्त्र-शस्त्र लेकर बेकसूर लोगों का क़त्ल कर सकते हैं। लगभग सभी धर्मों के ज्ञानियों की इस बात पर सहमति है कि हिंसा की न सिर्फ क़ानून के हिसाब से सख्त मनाही है, बल्कि पूरी तरह से भगवान के आदेश और नीति के बिलकुल खिलाफ है। इसलिए हर एक धर्म में ग्रंथों की व्याख्या की कला बनी। सही व्याख्या पर बहस ज़रूर हो सकती है और बहस होना ज़रूरी भी है। व्याख्या के बिना हम शब्द, लक्षणा और व्यंजना समझ नहीं पाते। पर उग्रवादी सोचते हैं कि हमको व्याख्या नहीं चाहिए, हम खुद समझदार हैं और हम निहित अर्थ भी समझते हैं और दूसरों को समझने के लायक हम ही हैं। इस तरह से इस तरह के उग्रवाद के साथ एक खास किस्म की खुदगर्ज़ी और ख़ुदपसन्दी चाहे या न चाहे बढ़ती ही जा रही है। और फिर दहशतगर्द भूल जाते हैं कि सही ईमान हमको खुदगर्ज़ी या ख़ुदपसन्दी तोड़ना और खुद की मुहब्बत की जगह पर खुदा की मुहब्बत सिखाता है। और दिल ही दिल में कोई इंसान ख़राब नहीं है। हर कोई बदल सकता है और बदलता भी है। हम यह भी महसूस करते हैं कि लोग निराश होकर सीरिया के आईएसआईएस को पीठ दिखाकर लौटते भी हैं और अपने अनुभवों और अपने अन्धविश्वास के बारे में बोलते भी हैं। बहुत खून बह चुका है और अभी भी बहता है, पर एक दोषी का असली हृदय परिवर्तन देखकर मेरा विश्वास बनता जा रहा है कि इंसानियत कभी भी ख़त्म नहीं होगी, वह हमेशा ही जीतती रहेगी।

पकड़े गए दहशतगर्दों को पूरी तरह से क़ानून के हिसाब से सजा ज़रूर मिलनी चाहिए। Jean Paul Sartre, Franz Fanon और दूसरे विचारकों ने बहुत साल पहले आतंकवाद को समझकर लिखा था कि हत्या गरीबों का बदला है अमीरों की हिंसा पर। यह निष्कर्ष और सोच आधुनिक समय के परिप्रेक्ष्य में एकदम भोली और खतरनाक लगती है।

परन्तु हमको यह भी याद रखना चाहिए कि दोषी होते हुए भी एक कातिल शैतानियत में फँस ज़रूर जाता है, पर फिर भी वह एक इंसान ही होता है, शैतान नहीं। इस तत्त्व को स्वीकार करना आसान नहीं, बहुत मुश्किल है, खासकर उनके लिए जिनके प्यारे भाई, बहिन, बेटा, बेटी इनके हाथ से मारे गए थे।

इंसान अपने लिए एक रहस्य है और रहस्य रहेगा ही। हम इंसान को समझने की कोशिश रात-दिन करते हैं, पर पूरी तरह से नहीं समझ पाते। हाय, इस रहस्य के अंदर रौशनी के साथ अँधेरा भी है। और हमको इस अँधेरे को चाहें या न चाहें झेलना पड़ता है। सबसे ज़रूरी यह है कि हमारी उम्मीद ख़तम न हो कि हम इस अँधेरे में अपनी ओर से थोड़ी सी रौशनी लाकर जिएँ। जब तक हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि आखिर में रौशनी जीत लेगी अँधेरे को, तब तक आतंकवाद की जीत नहीं होगी।■

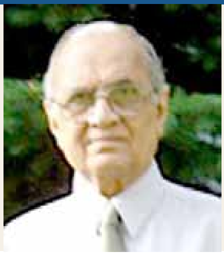

राधेकांत दुबे

१९२८ में गुजरात में जन्म। संस्कृत साहित्य में बी.ए., वेदांत में एम.ए. तथा हिंदी से एम.ए.। राष्ट्रभाषा कोविद एवं रत्न की उपाधि। कॉर्नेल विश्वविद्यालय, अमेरिका से भाषा विज्ञान में पी.एच.डी. तथा टीचिंग फैलो रहे। भावनगर तथा वर्धा में हिंदी अध्यापन किया। कोपनहेगन विश्वविद्यालय से भाषाविज्ञानी के तौर पर जुड़े रहे। डेनमार्क, इथाका और न्यूयार्क की अनेक संस्थाओं में हिंदू धर्म तथा दर्शन के विशेषज्ञ के तौर पर काम किया। साउथ एशियन एसोसिएशन ने अनेक रिसर्च पेपर प्रकाशित किये। गुजराती कविता संग्रह 'जीवन गान' तथा सदागत श्री विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'कोई तो' का गुजराती में अनुवाद प्रकाशित। सम्प्रति - कॉर्नेल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्ति के बाद वहीं निवास।

सम्पर्क : mikura333@gmail.com

सामयिक

एक आम नागरिक की टिप्पणी

पेरिस ब्लास्ट : आंतक के नित नये चेहरे

> हमारे समय की यह भी एक कड़वी सच्चाई है कि दुनियाभर में आतंकवाद को जन्म देने तथा उन्हें पालने-पोसने वाली अधिकतर सत्ताएँ और महासत्ताएँ पश्चिम की रही हैं।

मुंबई, फ्रांस, यूरोप, यूके और जहां कहीं भी त्रासवाद या आतंकवाद चला था एवं चल रहा है, वो मानवता की दृष्टि से कतई स्वीकार्य नहीं है। वह सच्चे मुस्लिम और सच्चे इस्लाम की तस्वीर भी नहीं है। और जो लोग भी ऐसी हरकतें करते हैं उन पर वार क्राइसेस का मुकदमा चलाना चाहिए।

ये तो हम सब जानते हैं कि जवान मुस्लिम बच्चे-बच्चियों को इस्लाम के लिये शहीद होने का प्रलोभन देकर और जन्नत और जन्नत में हूरों के मिलने का प्रलोभन देकर उनका 'ब्रेन वाश' किया जाता है और अंत में उनको आतंकवादी बनाया जाता है। इसका श्रेय उनके मजहबी गुरु या मौलाना या मौलवी जैसों को जाता है। उन पर कानूनी डंडा चलाना चाहिए। हमारे समय की यह भी एक कड़वी सच्चाई है कि दुनियाभर में आतंकवाद को जन्म देने तथा उन्हें पालने-पोसने वाली अधिकतर पश्चिम की सत्ताएँ और महासत्ताएँ रही हैं।

आजकल एक नई समस्या खड़ी हुई है : रिफ्यूजियों की लाखों की संख्या यूरोप के विविध देश में आने लगी है, जिनमें आंतकवादी भी होते हैं और भविष्य में यदि कोई इस्लाम 'इज इन डेंजर' करके उनको बहकायेगा तो वे अधिकांश जिहादी हो सकते हैं, तब भी उनको आश्रय देने से इनकार तो नहीं ही किया जाना चाहिए।

अमेरिका में अब एक नयी बहस शुरू हो गई है : प्रेसिडेंसियल उम्मीदवारों में रेगुफीस को यह आश्रय देना चाहिए या नहीं? बहुत से राज्य इस पर नहीं बोलते हैं। किसी

> भारत के अधिकतर मुसलमानों को राजनीतिक बातों में बहुत रस नहीं है। वे तो अपनी आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और धार्मिक समस्याओं में ही उलझे रहते हैं, मजहबी झगड़ों में नहीं। असली झगड़े और फसाद तो उनके तथाकथित धर्म के ठेकेदार करवाते हैं जैसे दूसरी कौमों के धर्म गुरु।

एक कौम या राष्ट्र के कतिपय लोगों के रेडीकल विचारों के कारण पूरी कम्युनिटी को हम दोष नहीं दे सकते। हिटलर ने भी ऐसा ही गुनाहा किया था पूरी यहूदी कौम को गुनाहगार मानकर। उनको नष्ट करने का प्रयास किया था। वह मानवता का अपराध और वार क्राइम था। तो इस प्रकार हम सारी मुस्लिम कौम या किसी और कौम को दूषित मानकर उनको सजा नहीं दे सकते।

राजनीतिक लोगों और शासकों का यह स्वभाव होता है कि जो उनकी महत्वाकांक्षा को संतुष्ट करे अर्थात उनके लिये जो उपयोगी हो, उनको वे बढ़ावा देते हैं, जैसे कि अमेरिका ने ओसामा बिन लॉदेन को बनाया। रूस के सामने खड़ा किया और फिर वो ही राक्षस बनकर उनके सामने खड़ा हुआ। किसी भी स्वतंत्र देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करना अच्छी बात नहीं। इसी तरह सीरिया में भी यूके, यूएस, फ्रांस आदि देशों ने राष्ट्रपति असद को हटाने की मांग की और नतीजा यह हुआ कि आईएस या आईएसआई या इस्लामिक स्टेट नाम का एक राक्षस खड़ा हो गया। अब उसका क्या किया जाये इसकी चिंता में हम सब लगे हुये हैं। अफगानिस्तान में बिन लादेन को खत्म करके चले आना चाहिए था। यह न हुआ। इराक को भी बिगाड़ दिया। पाकिस्तान आतंकवाद को पोषित करता है एवं आतंकियों को तालीम भी देता है, यह स्वीकार करके भी अपना एक मिलिट्री बेस उस एरिया में बनाये रखने के लिये यूएस सरकार कुछ भी नहीं करती।

वास्तव में दुनियाभर के इस्लामधर्मियों को सुधारने का और उनको आधुनिक विचार ग्रहण करने का आग्रह छोड़कर रूस, अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों को अपने घर वापस चले जाना चाहिए।

भारत के अधिकतर मुसलमानों को राजनीतिक बातों में बहुत रस नहीं है। वे तो अपनी आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और धार्मिक समस्याओं में ही उलझे रहते हैं, मजहबी झगड़ों में नहीं। असली झगड़े और फसाद तो उनके तथाकथित धर्म के ठेकेदार करवाते हैं जैसे दूसरी कौमों के धर्म गुरु। आधुनिक भारत के विभिन्न राज्यों में इस तरह की फिरकापरस्त बातों को तूल देने का जैसे रिवाज चल पड़ा है। इस संबंध में हम यही यही आशा करते हैं कि भारत के लोगों को अपनी गंगा-जमुनी परम्परा को स्मरण करते हुए मिल-जुलकर रहना चाहिये और धर्म के ठेकेदारों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये।

अमेरिका में आत्मरक्षा के लिये बंदूकें खरीदने के नियम इतने शिथिल हैं कि सेमी-आटोमेटिक गन और मिलिट्री टाइप के हथियार खरीदना आसान बात है। इसका मतलब यह नहीं है कि अतिवादियों से सहानुभूति रखी जाये। हमें यह भी विचार करना होगा कि किसी भी कौम की अगुवाई करते कुछ लोग अच्छे या बुरे हो सकते हैं, बाकी की सारी कौम तो महज आम इंसानों की होती है। इसी तर्क को ध्यान में रखकर मुस्लिम रिफ्यूजियों को आसरा देना बंद नहीं किया जाना चाहिये। हमें मानवता के तकाजे को कभी नहीं भूलना चाहिये। हमारे इस छोटे से गांव में शायद ३० परिवारों को आसरा दिया जायेगा। अमेरिका में रिपब्लिकन डरते हैं मगर डेमोक्रेट्स ऐसा नहीं सोचते। पश्चिम की इस बात का उल्लेख यहाँ मैं जोर-शोर से करना चाहता हूँ कि यहाँ का राज्य गैर-गोरों के वेलफेयर और सुरक्षा से अधिक महत्व गोरों के वेलफेयर को देता है।■

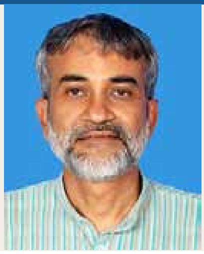

लाल्टू

१० दिसंबर १९५७ को जन्म। कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.एस.सी. (रसायन में ऑनर्स), आई.आई.टी. कानपुर से रसायन में एम.एस.सी. तथा प्रिंस्टन विश्वविद्यालय, अमेरिका से रसायन शास्त्र में पी.एच.डी.। पाँच कविता और एक कहानी संग्रह प्रकाशित। हावर्ड ज़िन की पुस्तक A People's History of the United States के दस अध्यायों का अनुवाद। जोसेफ कोनरॉड के उपन्यास Heart of Darkness का अनुवाद प्रकाशित। सैद्धांतिक रसायन (आणविक भौतिकी) में ५० से अधिक शोधपत्र अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित। समसामयिक विषयों पर आलेख, पुस्तक समीक्षाएँ तथा बांग्ला, पंजाबी, अंग्रेजी से कहानियाँ, कविताएं अनूदित एवं प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित। ब्लॉग 'आइए हाथ उठाएँ हम भी' (laltu.blogspot.com) संचालित।

सम्पर्क : laltu10@gmail.com

बीच-बहस

सम्मान वापसी के बृहत्तर आयाम

जब देश के रक्षा मंत्री, जो सेनाध्यक्ष रह चुके हैं, यह कहते हों कि देश भर में साहित्यकारों और कलाकारों ने अपने रचना-कर्म के लिए मिले सम्मान पैसे लेकर लौटाए हैं, तो इस विषय पर सोचते हुए मन अवसाद से भर जाता है। लगता है कि सभ्य आचरण, सौजन्यता, जैसे शब्द अपना अर्थ खो बैठे हैं। एक ऐसे मंत्री से, जिसने विश्व हिंदी सम्मेलन के पहले प्रतिष्ठित रचनाकारों को न बुलाए जाने पर यह कहा था कि पहले लोग मौज-मस्ती करने आते आते थे, उससे कोई सभ्य बयान की अपेक्षा करना ही ग़लत है। यह हमारी बदकिस्मती है कि हम ऐसे वक्त में जी रहे हैं कि हमारे कर्णधार ऐसी पिछड़ी मानसिकता के लोग हैं। वैसे यह विषय अब पुराना पड़ गया लग सकता है, पर इसका महत्व कम नहीं हुआ है। सम्मान लौटाने की आखिरी खबर यह लेख लिखने से पंद्रह दिन पहले की है, जब कन्नड़ के प्रसिद्ध दलित कथाकार देवनूर महादेवा ने साहित्य अकादमी सम्मान लौटाया। साहित्यकारों और कलाकारों ने अपने अर्जित पुरस्कार लौटाते हुए मौजूदा हालात पर अपनी चिंता दिखलाई है। इसलिए बात इस पर नहीं कि अवार्ड लौटाए जा रहे हैं, इस पर होनी चाहिए कि ऐसे क्या हालात हैं कि लोग अवार्ड लौटा रहे हैं। एक रचनाकार आजीवन इस अपेक्षा में रहता है कि उसे अपनी रचना को ऐसी स्वीकृति मिले जैसी की सम्मान मिलने पर होती है। लोग अपने घरों में मिले पदकों को श्रेष्ठ उपलब्धियों की तरह सजाकर भी रखते हैं। जाहिर है कि पुरस्कारों के प्रति उनके मन में गहरे सम्मान की भावना होती है। इसलिए जब वे पुरस्कार लौटा रहे हों तो यह समझना चाहिए कि किसी गहरी तकलीफ से ही वे ऐसा कर रहे हैं। इस बात को सत्तासीन दल और उनके सांगोपांग समझते नहीं हैं, ऐसा नहीं है, पर अपने सामान्य स्वभाव के अनुरूप इस पर खेद जताने की जगह उन्होंने हमलावर रुख अपनाया और रचनाकारों पर ही दोष मढ़ना शुरू कर दिया। जब सबसे पहले हिंदी के कथाकार उदय प्रकाश ने पुरस्कार लौटाया तो यह चर्चा शुरू हुई कि इसका क्या मतलब है। क्या एक लेखक महज सुर्खियों में रहने के लिए ऐसा कर रहा है। और दीगर पेशों की तरह अदब की दुनिया में भी तरह-तरह की स्पर्धा और ईर्ष्या हैं। इसलिए हर तरह के कयास सामने आ रहे थे। उस वक्त भी ऐसा लगता था कि अगर देश के सभी रचनाकार सामूहिक रूप से कोई वक्तव्य दें तो उसका कोई मतलब बन सकता है, पर अकेले एक लेखक के ऐसा करने का कोई खास तात्पर्य नहीं है। अब जब इतने लोगों ने पुरस्कार लौटाए हैं, यह चर्चा तो रुकी नहीं है कि सचमुच ऐसे विरोध से कुछ निकला है या नहीं, पर साहित्यकारों को अपने मकसद में इतनी कामयाबी तो मिली है कि केंद्रीय संस्कृति मंत्री से लेकर अर्थ मंत्री तक सार्वजनिक रूप से अपनी बौखलाहट दिखला गए। तो क्या ये अदीब बस इतना भर चाहते थे या इसके पीछे कोई और भी बात है।

अगर हम ऐसी दुनिया में होते जहाँ देश और संस्कृति का गौरव नहीं होता, जहाँ रचनाकार सिर्फ इसलिए लिखते या कलाकृतियाँ बनाते कि उन्हें सृजन करना है और देश आदि से

"आधुनिक समय में चेखव, मोपाँसा, हार्डी, डिकेन्स से लेकर हमारे अपने प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ तक अपनी रचनाओं में समकालीन राजनीति की तस्वीर रख गए हैं। ऐसी कोई रचना नहीं होती जिसमें समकालीन सत्य उजगार नहीं होता हो।"

कुछ लेना-देना नहीं है, तो इन पुरस्कारों का ऐसा महत्व नहीं होता, जो उनके लौटाने में है। दरअस्ल पुरस्कार लौटाते हुए लेखक-कलाकार यह दिखा रहे हैं कि उन्हें इस देश से कितना लगाव है। उन्हें देश में स्थायित्व और देश का भविष्य बिगड़ते देखकर जो तकलीफ हुई है, वे उसे इस तरह दिखला रहे हैं। इसे उनकी कमज़ोरी समझा जा सकता है। आम तौर पर कई अच्छे रचनाकार सीधे-सीधे ऐसा कोई कदम लेने से कतराते हैं जिसमें सियासत की बू आती हो। खास तौर पर साहित्य अकादमी जैसी संस्था को जो स्वायत्तता मिली हुई है, उसे बनाए रखना और राजनीति से उसे दूर रखना ज़रूरी है। पर सियासत की जैसी समझ अदब की दुनिया के लोगों को होती है, वैसी आम लोगों में नहीं होती। सियासत में उतार-चढ़ाव से इंसानी रिश्तों में कैसे फेरबदल आते हैं, इसकी समझ किसी भी अच्छी साहित्यिक कृति को पढ़ने से मिल सकती है। यहाँ तक कि प्राचीन महाकाव्यों में भी यही खासियत होती थी कि उनमें समकालीन सियासी दाँव-पेंच के बीच पिसती इंसानियत की तस्वीर होती थी। महाभारत को तो इसका आदर्श माना जा सकता है। आधुनिक समय में चेखव, मोपाँसा, हार्डी, डिकेन्स से लेकर हमारे अपने प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ तक अपनी रचनाओं में समकालीन राजनीति की तस्वीर रख गए हैं। ऐसी कोई रचना नहीं होती जिसमें समकालीन सत्य उजगार नहीं होता हो। इसलिए जब इतने सारे अदीब एक साथ ऐसा कदम ले रहे हैं तो वह महज सुर्खियों में रहने के लिए उठाया गया कदम नहीं है। जब रवींद्रनाथ ठाकुर ने नाइट की उपाधि वापस कर दी थी तो वह एक ऐतिहासिक कदम था। कुछ ऐसा ही आज के साहित्यकार कर रहे हैं। कोई कह सकता है कि रवींद्र तो जालियाँवाला बाग हत्याकांड के विरोध में ऐसा कर रहे थे। क्या ऐसा कुछ हुआ है जिसे उस हत्याकांड के बराबर माना जा सकता है? यह वाजिब सवाल है और इसका जवाब यह है कि हाँ, आज ऐसा ही एक ऐतिहासिक समय है। मुजफ्फरनगर से लेकर दादरी तक हमारे सामने एक के बाद एक भयंकर घटनाएँ होती जा रही हैं। चुनावों में बुनियादी समस्याओं की जगह इस पर बात होती है कि आपका खान-पान क्या है। राजनैतिक नेताओं और कार्यकर्ताओं में भाषा से लेकर व्यवहार के हर पहलू में हिंसा बढ़ती जा रही है। अदीब इस बात को समझ रहे हैं कि उनकी ऐतिहासिक भूमिका है कि वे इस देश को तबाह होने से बचाएँ।

सत्ता पाने के लिए नेता हमेशा ही झूठ और फरेब का सहारा लेते रहे हैं। एक सामान्य किसान या कामगार को भड़काना आसान होता है। पर आज जो हो रहा है, वह सिर्फ फरेब नहीं है। इंसान की गहरी असुरक्षाओं का फायदा उठाया जा रहा है। षडरिपुओं में से हर एक को कैसे सत्ता की भूख मिटाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, पूरे देश को इसकी प्रयोगशाला बनाया जा रहा है। घर-पड़ोस में हर कोई शक की नज़र से औरों को देखे, ऐसा माहौल बनाया जा रहा है। देश, धर्म, जाति आदि कई हथियार हैं जिनसे एक आम आदमी को उसके शांत सामान्य जीवन से भटकाकर उसे हत्यारी संस्कृति में धकेल देना संभव है। ऐसा होता रहा है। जब तक यह सीमित स्तर तक होता है, उदारवादी लोग इसे दूर से देखते हैं और कुछ कह सुनकर बैठ जाते हैं। हमारे ज्यादातर लेखक कवि ऐसे ही हैं। पर जब बात यहाँ तक आ जाती है कि आस-पास समूची इंसानियत खतरे में दिखती हो तो यह लाजिम है कि साहित्यकारों को सोचना पड़े। सही है, १९८४ में सब ने पुरस्कार नहीं लौटाए, २००२ में भी नहीं लौटाए। यह तब के पुरस्कृत रचनाकारों की सीमा थी। शायद तब इतना साहस नहीं था जितना आज के रचनाकार दिखला पा रहे हैं। इनमें से अधिकतर को तब पुरस्कार मिले नहीं थे। तब जिनको लगा होगा कि देश में हालात बिगड़ रहे हैं, वे अलग-अलग तर्क देकर अपनी निष्क्रियता को ठीक ठहराते होंगे। पर ये बातें कोई मायना नहीं रखतीं। आज सांप्रदायिक ताकतों का राक्षस हर अमनपसंद इंसान को निगलता आ रहा है। ऐसे में हमारे अदीब उठ खड़े हुए हैं और उन्होंने अपनी ऐतिहासिक भूमिका को समझा है, यह महत्वपूर्ण बात है।

समूचे दक्षिण एशिया में लंबे समय से फिरकापरस्ती को सियासी हितों के लिए बढ़ाया गया है। ऐतिहासिक कारणों से पाकिस्तान और बांग्लादेश में मुसलमान, श्रीलंका में बौद्ध और भारत में हिंदू बहुसंख्यक हैं। इसका फायदा सत्तालोलुप नेताओं ने खुलकर उठाया है। दूसरे मुल्कों में भी अलग-अलग तरीकों से जान पर खतरा मोल लेकर बौद्धिकों ने फिरकापरस्ती और हिंसा की राजनीति का विरोध किया है। हर जगह लोग मारे गए हैं। इस मसले को सिर्फ पार्टी-पॉलिटिक्स में सीमित कर देखना ग़लत है। कल्पना करें कि अफ्रीका के किसी मुल्क में बिना किसी तख्तापलट के देश के

गृह मंत्री को अल्पसंख्यकों का कत्लेआम करवाने के लिए सज़ा-ए-मौत हो जाती है। ऊपर की अदालत इसे आजीवन कारावास में बदल देती है और देश की सरकार कुछ वक्त तक अपने ही मंत्री को मृत्युदंड देने के लिए अदालत में पैरवी करती है। इस सरकार के साथ काम कर रहे पुलिस प्रमुख और दीगर अधिकारियों को फर्जी मुठभेड़ों के लिए कई सालों की कैद होती है। हमारी नस्लवादी सोच के लोग यही कहेंगे कि अरे ये अफ्रीकी ऐसे ही होते हैं, साले मारकाट करते रहते हैं। यही बात जब आज़ादी के बाद पहली बार हमारे देश में एक राज्य की सरकार के साथ होता है, और हमें इससे ज्यादा परेशानी नहीं होती तो यह गहरी चिंता की बात है। उल्टे सांप्रदायिक नफ़रत की संस्कृति बढ़ती चली है। ऐसा माहौल बनाया जा रहा है कि देश की सारी समस्याएँ अल्पसंख्यकों की वजह से हैं, जो कुल जनसंख्या का पाँचवाँ हिस्सा हैं। विज्ञान और तर्कशीलता से दूर पोंगापंथी सोच को लगातार बढ़ाया जा रहा है। कई लोग यह कह सकते हैं कि अब साहित्य अकादमी ने असहिष्णुता के खिलाफ प्रस्ताव पारित कर साहित्यिकों से आग्रह कर दिया है कि वे लौटाए पुरस्कार वापस ले लें, तो अब बात खत्म हो गई है। पर बात सचमुच खत्म हुई नहीं है।

रचनाकारों का विरोध एक खास संगठन के साथ जुड़े काडर को और आम लोगों को यह सोचने को मजबूर करेगा कि क्या वे सही रास्ते पर हैं। सत्ता के भूखे लोग असहिष्णुता के माहौल के खिलाफ आवाज़ उठाने को देश का अपमान कह कर लोगों को भरमाने की कोशिश कर रहे हैं। नेताओं के शब्दों को घुमा-फिराकर उलटवार करने के इस खेल में हर कोई शिकार बन रहा है। विकास का झाँसा देकर लोगों में परस्पर के प्रति नफ़रत फैलाकर कब तक ये लोग हमें उल्लू बनाते रहेंगे। यह सवाल उठ सकता है कि आखिर किसी को नफ़रत की सियासत का क्या फायदा है, लोग तो कभी न कभी समझ ही जाएँगे। यह सवाल हमें और गहरी सच्चाइयों को परखने को मजबूर करता है। हमें उन आर्थिक नीतियों को समझना होगा जिनके लिए लोगों को आपसी मारकाट में उलझाए रखना ज़रूरी है।

आज भारत के संपन्न वर्गों ने यह ठान ली है कि वे वैश्विक पूँजी के सामने घुटने टेक रहे हैं। विश्व व्यापार संगठन के समझौतों में एक के बाद एक हर क्षेत्र को खुले बाज़ार में लाने की जो मुहिम भारत सरकार ने छेड़ी हुई है, उससे देश के आम लोगों पर जो भयंकर मुसीबतें आने वाली हैं, इससे ध्यान हटाने के लिए लोगों को आपसी लड़ाई-झगड़ों में उलझाए रखना और उन्हें तर्कशीलता से दूर रखना ज़रूरी है। आज तालीम तक को सेवा क्षेत्र घोषित किया जा रहा है और उच्च शिक्षा में विदेशी संस्थानों के घुसने के लिए रास्ता खोला जा रहा है। जाहिर है कि देश भर में इसका व्यापक विरोध हो रहा है, क्योंकि धीरे-धीरे उच्च-शिक्षा बहुसंख्यक आम लोगों के लिए असंभव होती जाएगी। पश्चिमी सरमाएदारों को यह जताने के लिए सरकार मौजूदा शिक्षा-सुविधाओं को खत्म करने के लिए तैयार है, पहले तो बजट में कटौती की गई, फिर वजीफों में कटौती शुरू हो गई, जिसके प्रतिरोध में देश भर के छात्र ऑक्यूपाई यूजीसी नाम से उठ खड़े हुए हैं।

> *सम्मान लौटाने की घटना को बृहत्तर सच्चाइयों से अलग देखना और इसे महज एक सामान्य सियासी कदम मान लेना ग़लत होगा। अव्वल तो इंसान की कोई भी हरकत गैरसियासी नहीं होती, पर उसके मायने क्या होते हैं, वह किसके पक्ष-विपक्ष में है, यह सवाल उठने लाजिम हैं।*

इसलिए सम्मान लौटाने की घटना को बृहत्तर सच्चाइयों से अलग देखना और इसे महज एक सामान्य सियासी कदम मान लेना ग़लत होगा। अव्वल तो इंसान की कोई भी हरकत गैरसियासी नहीं होती, पर उसके मायने क्या होते हैं, वह किसके पक्ष-विपक्ष में है, यह सवाल उठने लाजिम हैं। यहाँ सिर्फ किसी एक पार्टी का विरोध नहीं है, यह मुल्क पर लगातार हावी होते जी रही फासीवादी संस्कृति का विरोध है। हमारे यहाँ न केवल दानिशमंद अदीबों की हत्याएँ हुई हैं, महज इस अफवाह पर कि एक जानवर को मारा गया है, एक इंसान का कत्ल हुआ। बेशक गाय महज जानवर नहीं है, इसके साथ आस्थाएँ जुड़ी हुई हैं, पर जब भीड़ कानून को अपने हाथ ले लेती है और यह आम बात बनती जा रही है तो सोचना लाजिम है कि हम कहाँ जा रहे हैं। ऐसी घटनाओं पर जो भी कारवाई हो रही है, उस पर किसी को यकीन नहीं है। ऐसे में अगर पढ़ने लिखने वाले लोग विरोध के तरीके न ढूँढें तो कोई उन्हें ज़िंदा कैसे कहे! सृजन बाद में आता है, पहले तो जीवन है। नफ़रत और हत्या की संस्कृति का विरोध ज़िंदगी की पहचान है। इसलिए हमारे अदीब विरोध में सामने आ रहे हैं। १९०५ में बंगभंग के विरोध में रवींद्रनाथ साथी रचनाकारों के साथ सड़क पर उतर आए थे। बंगाल की अखंडता को लेकर तब उन्होंने कविताएँ और गीत लिखे थे जो आज तक पढ़े गए जाते हैं। आज वक्त है कि हमारे कवि लेखकों को सड़क पर उतरना होगा। लोगों तक संवेदना के जरिए यह पैगाम ले जाना होगा कि इंसानियत को बचाए रखना है। विविधताओं भरी हमारी साझी विरासत को बचाए रखना है। तर्कशील तरक्कीपसंद भारत को बचाए रखना है। ■ (लेखक के यह निजी विचार हैं।)

डॉ. ओम विकास

१ अगस्त १९४७ को उत्तरप्रदेश के एटा जनपद के ब्रह्मपुरी गांव में जन्म. आईआईटी कानपुर से बीटेक, एमटेक एवं पी-एच.डी. की डिग्रियाँ हासिल कीं. टीसीएस में सिस्टम्स इंजीनियर रहे. फिर भारत सरकार के तत्कालीन इलैक्टॉनिक्स विभाग, राष्ट्रीय सूचना केन्द्र और इंफोर्मेशन टैक्नोलॉजी विभाग में विविध पदों पर रहते हुए १९९० में "TDIL : भारतीय भाषाओं के लिए तकनीकी विकास" मिशन कार्यक्रम शुरू किया. विश्व भारत@tdil त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक संपादक रहे. ABV-IIITM ग्वालियर के निदेशक एवं जापान में भारतीय दूतावास में विज्ञान सलाहकार भी रहे हैं. अनेकों पुरस्कार मिले जिनमें प्रमुख हैं : उत्तरप्रदेश विज्ञान भूषण, इंदिरा गांधी राजभाषा, विज्ञान शिरोमणि, वास्विक औद्योगिक शोध पुरस्कार तथा विश्व हिंदी सम्मान. संप्रति : एन.आई.टी. कुरुक्षेत्र में मेंटर प्रोफेसर-एमेरिटस हैं। ईमेल : Dr.OmVikas@gmail.com

सम्मान वापिसी : देश से बढ़कर अहम्

भारत वर्ष की संस्कृति में व्यक्तिगत आस्थाएं विविध हैं और सामाजिक सहिष्णुता की प्रधानता रही है। मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना की स्वीकारता रही है। आक्रांताओं के साथ बाहरी संस्कृतियों को भी स्वीकारा गया। सर्वधर्म समभाव का उद्घोष किया। आजादी की लड़ाई विभिन्न सम्प्रदायों ने मिलकर लड़ी। आजादी मिलने पर भारत के संविधान में सहिष्णु समाज की ही परिकल्पना है। आजाद हिन्दुस्तान ने कई विप्लव सहन किए। आपातकाल में प्रेस और अभिव्यक्ति की आजादी कुंद हुई। नब्बे के दशक में कश्मीर की मस्जिदों ने कश्मीरी पंडितों को काफिर घोषित किया। पंडितों का नरसंहार हुआ और भारी संख्या में पलायन हुआ, आज तक वे वापिस नहीं लौट पाये। चौरासी में करीब तीन हजार सिख चुन-चुनकर मारे गए। इसके बाद भी अनेक साम्प्रदायिक घटनाएं घटीं, लेकिन असहिष्णुता की इन पराकाष्ठाओं के प्रति बुद्धिजीवी आंख मूंद मौन रहे। पुरस्कार लेते समय समाज के प्रति संवेदना नहीं रही, अहम् तुष्टि के लिए मौन रखा। आज अचानक देश-सम्मान से पुरस्कृत नयनतारा को असहिष्णुता दिखी, फिर तर्क दिए बिना कुछ और लेखक, कलाकार इस टोली में शामिल हो गए। मीडिया को मसाला मिला, मसला उछाला, कांग्रेस की पौ बारह, विरोध के लिए संबल मिला।

लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक आदि को पुरस्कार उनकी निर्मल प्रतिभा, नवाचार और देश-उपयोगी योगदान के लिए दिया जाता है। संवेदनशील लेखन समाज का दर्पण है। लेखक का दर्प प्रतिभा का द्योतक नहीं है, अपितु पुरस्कार लिए और दिए जाने की प्रक्रिया पर प्रश्नचिह्न लगाता है। जीवंत लेखक और कलाकार अपनी नव-नवीन रचनाओं से समाज को

> *लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक आदि को पुरस्कार उनकी निर्मल प्रतिभा, नवाचार और देश-उपयोगी योगदान के लिए दिया जाता है। संवेदनशील लेखन समाज का दर्पण है। लेखक का दर्प प्रतिभा का द्योतक नहीं है, अपितु पुरस्कार लिए और दिए जाने की प्रक्रिया पर प्रश्नचिह्न लगाता है।*

पहले कभी इतने बड़े पैमाने पर लेखकों ने अपने पुरस्कार लौटा कर अपना विरोध नहीं जताया। अब अगर जता रहे हैं तो इसीलिये न कि बिना ठोस विद्रोह के स्थिति सुधरने की कोई उम्मीद नहीं दीखती। विचार ही तो लेखक की सारी सम्पत्ति है, समाज को उसका योगदान है, असहमति हो तो भी भिन्न विचार हमारी सोच का विस्तार करते हैं, हमें जागरूक बनाते हैं। विचारों की खुली अभिव्यक्ति के लिये हत्या का शिकार हो जाना प्रजातंत्र की प्रकृति नहीं है। इससे तो लेखक और कलाकार के आस्तित्व को ही खतरा पैदा हो जाता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लेखन की पहली शर्त है। आज अगर लेखक विद्रोह के मैदान में उतरा है तो इसका अर्थ यह है कि सार्थक और सच्चे लोकतंत्र पर सवाल उठने लगा है। अगर भारत को लोकतंत्र बने रहना है तो विचारों का वैविध्य स्वीकारना बहुत अहम है।

सुषम बेदी
साहित्यकार एवं हिंदी प्रोफेसर
कोलंबिया विश्व विद्यालय, न्यूयार्क

दुरुस्त करने में समर्थ होता है। जुगाड़ू लेखक दर्पवश पुरस्कार/सम्मान लौटाकर अपनी अक्षमता और अपनी प्रतिभा पर अविश्वास को दिखाता है। वह अहंकारवश इतना असहिष्णु और असंवेदनशील हो जाता है कि उसे न देश के गौरव का है ध्यान है और न ही गरीबी, अशिक्षा और कुपोषण की चिंता। दर्पारूढ़ लेखक, कलाकार अपनी ही रचना की सामाजिक महत्ता को भुला देता है।

सेकुलर शब्द का सही अर्थ है सर्वधर्म समभाव। लेकिन राजनीति ने इसकी व्याख्या में धर्मनिरपेक्ष को सम्प्रदाय सापेक्ष बना दिया। सम्प्रदायों को भिड़ाते, वोट लेते, नेता अपना अप्रतिम विकास करते। कतिपय लेखक, कलाकार अपना सामाजिक धर्म भुलाकर इस शाब्दिक राजनीति में बह जाते हैं। सम्मान/पुरस्कार सही या गलत देश का गौरव होता है, देश के गौरव को सम्मान देना हरेक पुरस्कृत भारतीय का दायित्व बनता है।

पुरस्कार चयन समितियों में आप्त ऋषि नहीं होते, सम्पर्क साधे लेखक होते हैं, उनकी वरीयता का कोई मापदंड नहीं। उम्मीदवारों की लंबी सूची होती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा से जुड़े लेखकों के नेटवर्क से सभी सुपरिचित हैं। इस कोटि का लेखक महालेखक होता है, जूरी में भी रहता है। पारस्परिक अनुग्रह से पुरस्कार सूची बढ़ती है।

सम्मान देश का गौरव है, यह रचना कृति की उत्कृष्टता हेतु मिला है। उत्कृष्ट रचना प्रभु-प्रेरित होती है। लेखक माध्यम बनता है। इन कतिपय लेखकों/कलाकारों का दम्भ कैसा जो उस रचना/कलाकृति को भुलाकर अपने अहंकार को प्रबल कर दे। लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक सही अर्थों में समाज की विषमता के प्रति संवेदनशील होकर समाधान देता है, न कि देश के गौरव सम्मान को लौटाकर पलायन करता है।

देखा-देखी एकाध वैज्ञानिक भी तर्कविहीन भेड़चाल में शामिल हुए। बढ़ती उमर में सामाजिक परिवेश और लोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर समाधान देने में अक्षम होने पर अवैज्ञानिक तर्क देकर मीडिया की वाहवाही लूटकर अहम तुष्टि करते हैं। यदि सामर्थ्य है तो चिंतन करो, चर्चा करो, सामाजिक सुधार व परिष्कार के लिए विज्ञान-सम्मत सुझाव दो, समाधान दो। २०वीं सदी की निर्मम घटनाओं के प्रति ये लेखक असंवेदनशील रहे, सम्मान लिए और चुप रहे।

२१वीं सदी में भी ट्रेन में लोगों को सुनियोजित ढंग से जलाया गया, २६/११ को मुम्बई में आतंकी हमले में लोग मारे गए। धर्मान्धता में झोंककर आतंकी हमले कराए जा रहे हैं। असहिष्णुता की आग विदेशों में भी नरसंहार कर रही है। ११/९ को अमेरिका में ३००० लोग मारे गये। हाल ही में पेरिस में १२९ लोग मारे गए और २०० गंभीर रूप से घायल हुए। पलायन मंच पर आए लेखक वृंदों का असहिष्णुता के अतिरेक आतंक की समाप्ति के लिए कौन-सा सामूहिक लेखन/रचना प्रयास हुआ है? गरीब का बालक अच्छे स्कूल में नहीं पढ़ सकता, कुपोषण है, भ्रष्टाचार है। क्या यह सामाजिक असहिष्णुता नहीं है? इसके प्रति क्या प्रतिभावान सम्मान लौटाने वाले चंद लेखकों का दायित्व नहीं कि वे भी इन विषमताओं के आमूल निवारण में सक्रिय योगदान दें। सम्मान लेखक की रचना कृति पर दिया गया है, क्या सम्मान लौटाने वाले लेखक क्रोधाग्नि में अपनी उस कृति को भी स्वाहा करने का साहस दिखाएंगे? क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः, स्मृति भृंशाद् बुद्धिनाशो। मतभेद न देखें, मतैक्य से देश के विकास लक्ष्य को साधें।

१६ नवम्बर २०१५ को राष्ट्रीय प्रेस दिवस पर राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने इन संवेदनशील लेखकों को उचित ही संदेश दिया कि सम्मान देश का गौरव है। यदि कोई असहमति है तो चर्चा करें, बहस में हिस्सा लें, तर्क पर भावना को हावी न होने दें। भारत के संविधान में भरोसा रखें। भारतवासी उन सभी रचनाओं और रचयिताओं का आदर करते हैं जिन्हें राष्ट्रीय सम्मान से समादृत किया गया। आशा है ये भावुक लेखकवृंद, कलाकार, वैज्ञानिक देश के गौरव सम्मान लौटाने की हठ छोड़कर सहिष्णुता का परिचय देंगे। देश की ज्वलंत समस्याओं का समाधान देंगे, नत सृजन से देश निर्माण में सहायक होंगे।■ (लेखक के यह निजी विचार हैं।)

डॉ. हरि जोशी

१७ नवंबर १९४३ को खूदिया, तहसील खिरकिया, जिला हरदा, मध्यप्रदेश में जन्म. एम.टेक, पी.एच-डी. प्राध्यापक मैकेनिकल इंजीनियरिंग. हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के अलावा अंग्रेजी की अमेरिकन पत्रिका 'दी रिफाइन्ड सेवेज पोइट्री रिव्यू' में कविताएँ प्रकाशित. आकाशवाणी, दूरदर्शन, बीबीसी तथा अमेरिका में आस्टिन टीवी पर कविता पाठ. अमेरिका तथा इंग्लैंड की अनेकों यात्राएँ. प्रमुख कृतियाँ : कविता संग्रह - पंखुरिया और यंत्रयुग. व्यंग्य संग्रह - अखाड़ों का देश, रिहर्सल जारी है, व्यंग्य के रंग, आशा है सानंद हैं, पैसे को कैसे लुढका लें, आदमी अठन्नी रह गया. उपन्यास- पगडंडियां, महागुरू, वर्दी और टोपी टाइम्स. मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'व्यंग्य के रंग' पर 'वागीश्वरी सम्मान' से सम्मानित.

सम्पर्क : ३-३२ छत्रसाल नगर, फेज-२, जे.के.रोड, भोपाल. ईमेल : harijoshi2001@yahoo.com

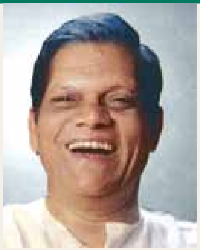

पुरस्कारों की राजनीति का तीसरा पहलू

अनेक नामी गिरामी लेखकों ने साहित्य अकादमी के सम्मान लौटाने की संगठित योजना बनायी। उनके इस कदम का स्वागत किया जाना चाहिए। अभी तक भोग की संस्कृति में विश्वास करने वाले इन मनीषियों ने त्याग की संस्कृति अचानक अपना ली है। यह चमत्कार से कम नहीं है। कुछ नेताओं ने इन्हें अपने विरोध का अचूक शस्त्र बनाया है। जिस विचारधारा का लाभ कांग्रेस सरकारों में ये लोग प्राप्त करते रहे थे, वैसे फायदे अब इन्हें शायद न मिलें, इस शंका से इनका व्याकुल होना स्वाभाविक है। अरे आप व्यर्थ चिंता करते हैं आप तो तिकड़माचार्य हैं, जुगाड़ करने में। आज तक आपका कोई सानी नहीं रहा। किसी न किसी चोर दरवाज़े से यहाँ भी घुसपैठ कर ही लेंगे? भयाक्रांत होकर पहले ही आक्रमण क्यों कर दिया ?

साहित्य की नेतागिरी करने वाले कुछ मनीषियों के तथाकथित मुखिया, जो मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री के बहुत घनिष्ट रहे हैं। उनके जीवन काल तक, उनका चरणोदक प्राप्त करते रहे। देखने वालों ने इन्हें उसी मुद्रा में देखा है जैसे

पिछले दिनों रंगनाथ मिश्र, अखिलेश यादव के सामने पुरस्कार प्राप्त करते हुए दिखाई दिए थे। ये गुजरे दौर में दोयम दर्जे के एक लेखक को सीढ़ी बना कर प्रधानमंत्री कार्यालय तक में घुसपैठ करने में सफल रहे थे। ये आला अफसर थे और सेवा निवृत्ति के बाद भी किसी न किसी महत्वपूर्ण पद पर तिकड़म करके आसीन होते रहे। कांग्रेस शासन काल के लगभग सारे इनाम-इकराम ये सज्जन पा चुके हैं। क्या वामपंथी और क्या दामपंथी, सभी इनकी नस नस से परिचित हैं।

यह चाहते हैं कि व्यवस्था में कोई परिवर्तन न हो और ये सुविधाभोगी उसी तरह अपना वर्चस्व कायम किये रहें जैसे पूर्व सरकारों में प्राप्त करते रहे थे। इनका विश्वास प्रजातंत्र में भी है या नहीं? पहले अपने समर्थन में अनेक साहित्यकारों के वक्तव्य दिलाये ताकि इन्हें एक हिंदी प्रदेश सरकार का तीन लाख वाला सम्मान मिल जाये और आखिर में वे उसे लेकर

> *लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक आदि को पुरस्कार उनकी निर्मल प्रतिभा, नवाचार और देश-उपयोगी योगदान के लिए दिया जाता है। संवेदनशील लेखन समाज का दर्पण है। लेखक का दर्प प्रतिभा का द्योतक नहीं है, अपितु पुरस्कार लिए और दिए जाने की प्रक्रिया पर प्रश्नचिह्न लगाता है।*

ही माने। सवाल है उसे क्यों नहीं लौटाया इन्होंने? वह तो सीधे-सीधे एक पार्टी विशेष की सरकार ने ही दिया था। साहित्य अकादेमी तो एक स्वायत्त संस्था है। सोचा होगा जब एक लाख के सम्मान को वापस करने से ही पर्याप्त पब्लिसिटी मिल सकती है तो बड़ी राशि वाला सम्मान क्यों लौटाया जाये?

अनेक भोले-भाले लेखक इनके पीछे पीछे चलकर सम्मान लौटाकर पछता भी रहे होंगे। काठ की हांडी एक बार चढ़ चुकी है, अब ये कभी चढ़ाकर देखें? चौबेजी छब्बेजी बनने गए थे, दुबे बनकर लौट आये। लोग भूल चुके होंगे इन्होंने एक बार क्यों एक प्रदेश की विधानसभा में सार्वजानिक रूप से बिना शर्त माफी माँगी थी? संक्षेप में मामला यह था कि किशोरवय के बच्चों के लिए शासकीय पुस्तकालयों में अपने चहेते लेखकों की ऐसी-ऐसी पुस्तकें खरीदी गयीं, जो अनुच्चारणीय गंदी गालियों से लबरेज थीं। इस बात को विधानसभा में सत्ता पक्ष के तथा विपक्ष के अनेक विधायकों ने समवेत स्वर से उठाया था। किताब खरीदी के लिए इन्हें ज़िम्मेदार माना गया और विधान सभा में विशेषाधिकार हनन का इन्हें दोषी पाया गया था।

एक और उल्लेखनीय इतिहास है कि शरद जोशी जिस दिन तक इन जुगाडू लेखक के साथ थे वे प्रतिष्ठित व्यंग्यकार थे और उन्होंने जैसे ही इनके कार्य कलापों का कच्चा चिट्ठा खोला कि वे प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिए गए। चौरासी के सिख विरोधी दंगों के बाद भी इन्होंने कभी कोई विरोध दर्ज नहीं कराया। साहित्यकारों का समूह बनाना और उसका नेतृत्व करना इनकी पुरानी हॉबी है। यह जग जाहिर है कि ये सब मिलकर वर्तमान व्यवस्था विरोधी मुहिम चला रहे हैं। राजनीतिज्ञों ने इस बार लड़ाई में साहित्यकारों की ब्रिगेड को आगे कर दिया है।

वर्तमान सत्ता प्रमुख पर भ्रष्टाचार की अंगुली अभी तक तो नहीं उठी है, लेकिन उन्हें एक टर्म भी स्वीकार करने को ये विरोधी तैयार नहीं? जबकि एक से एक भ्रष्टाचार में लिप्त कर्णधारों के साथ कंधे से कन्धा मिलकर ये लोग दशकों काम करते रहे। तब तक क्यों चुप थे? क्योंकि मलाई प्राप्त करने के अवसर मिलते रहते थे।

आज तक ये वॉक ओवर पाते रहे। इन्होंने एक बहुत बढ़िया अवसर दिया है। अब उन साहित्यकारों को एकजुट हो जाना चाहिए जिन्हें आज तक इनके द्वारा अछूत माना जाता रहा। आपके सामने पूरा रिकॉर्ड है, जहाँ-जहाँ ये काबिज रहे। आज तक किन-किन लोगों ने मलाई प्राप्त की, यह सभी को ज्ञात है। इन्होंने क्या कभी भी किसी ऐसे लेखक-कवि को सम्मानित होने दिया जो इनके झंडे के नीचे न खड़ा हुआ हो।

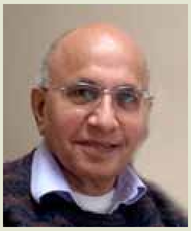

‘तेरी आँखें किसी को क्या देंगी, अपना अपना सरूर है साकी।’ सच्चे कलाकार का वास्तविक पुरस्कार उसकी कलाकृति ही है। जीन पॉल सार्त्र की तरह वह नोबेल पुरस्कार को भी ठुकरा देता है। पुरस्कार स्वीकार करने से प्रत्यक्ष हुई तुच्छता को पुरस्कार वापिस करने से महान नहीं बनाया जा सकता। विचारों की लड़ाई विचारों से लड़ी जानी चाहिए। असहिष्णुता को लौटाए पुरस्कारों के ढेले मार-मार कर समाप्त करने की प्रक्रिया खुद में असहिष्णुता दिखलाती है। दूर बैठ कर अजीब लगता है कि भारत में हर चीज़ के लिए सरकार को कोसा जाता है, चाहे वह मोहल्ले की गन्दी गली हो या किसी सिरफिरे के ‘धर्म’ के नाम पर उद्गार हों। कोई कलाकारों को ‘मानव सब हैं एक समान, सबको सन्मति दे भगवान’ का प्रचार करने से नहीं रोक रहा है। अंत में, किसी को बुरा भला कहने से पहले, ‘मेरे दिलबर उन पर ख़फ़ा न हो, कही तेरी भी कुछ खता न हो’।

डॉ. विजय विवेक दीक्षित
प्रोफेसर
सेंट लुइस विश्वविद्यालय, अमेरिका

इस षड्यंत्र का अच्छी तरह पर्दाफाश किया जाना चाहिए। ये चाहते हैं कि सारे लेखक इन्हें अपना नेता मान लें? क्या यह संभव है? सभी तो ‘कमनिष्ठ’ नहीं हो सकते? देख लीजिये ये सारे साहित्यकार स्वयं को अवामपंथी (वामपंथी नहीं) कहते हैं जबकि ये मात्र लाम पंथी, सलाम पंथी और दाम पंथी रहे हैं, क्योंकि अन्य लेखक आज तक एकजुट नहीं हो पाए इसलिए अलग-अलग रहकर उपेक्षा की पीड़ा भोगते रहे। क्या ‘कमनिष्ठ’ लेखकों के अलावा अन्य साहित्यकारों ने कुछ लिखा ही नहीं है? भारतीयता और संस्कृति के पक्षधर तो वही हैं। सब कुछ प्रमाणित है, आज तक वे सारे के सारे क्यों उपेक्षित रहे? इन्हें भारत में ही असहिष्णुता दिखाई दे रही है, पेरिस, पाकिस्तान, सीरिया, माली, सभी जगह तो पूर्ण शांति है। वहां के लिए कभी ये मुंह नहीं खोलेंगे।■ (लेखक के यह निजी विचार हैं।)

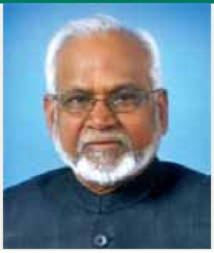

डॉ. कृष्ण कुमार

१४ फरवरी १९४० को बहराइच, उत्तरप्रदेश में जन्म। आई.आई.टी., मद्रास से बी.टेक., ब्रैडफोर्ड टेक्निकल कॉलेज, यू.के. से टेलीविजन सर्टिफिकेट, पोर्ट्स विश्वविद्यालय, यू.के. से एम.एस.सी., सरे विश्वविद्यालय, यू.के. से पी.एच.डी.। भारत, सिंगापुर तथा यू.के. के विभिन्न संस्थानों में कार्य एवं अध्यापन किया। विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। कविता, कहानी एवं निबंध संग्रह की १८ पुस्तकें प्रकाशित। दुनियाभर की दो दर्जन संस्थाओं द्वारा सम्मानित। सम्प्रति - संस्थापक एवं अध्यक्ष गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक समुदाय।

सम्पर्क : २१ बिडफॉर्ड ड्राइव, सेली ओक, बर्मिंघम, बी-२९, ६-क्यू.जी., (यू.के.) ईमेल : profdrkrishna@googlemail.com

पुरस्कार लौटाना भारतीयों का अनादर

वैदिककाल की परम्परा में दीर्घकाल तक कला की साधना करने के पश्चात ही कुछ कर्मठ कलाकारों को उनकी कृतियों के लिए पुरस्कृत किया जाता था। आज समाज में इसके विपरीत हो रहा है। पुरस्कार दिया-लिया जाता है और अब उसको लौटाया भी जा रहा है। पुरस्कार वापस करना पूर्वकाल में होता ही नहीं था किन्तु अगर ऐसा कभी हुआ तो पुरस्कृत होने वाला व्यक्ति श्रापित होता था।

पुरस्कार वापसी का यह क्रम साहित्यकार उदय प्रकाश की अगुवाई में प्रारम्भ हुआ और अब इसने 'डॉमिनो' खेल के अनुसार अन्य लोगों को भी अपनी श्रेणी में रख लिया है। पुरस्कार लौटाने वालों की संख्या रोज़ बढ़ रही है।

क्या यह वास्तव में राष्ट्र में जन्म लेती असहिष्णुता के विरुद्ध प्रदर्शन है या फिर कुछ और ही है? क्या यह भारत जैसे विविधता से भरे राष्ट्र में पहले भी होता रहा है और आज के परिदृश्य में कुछ संकुचित विचारधारा के लोग अपने ही घर में आग लगा कर उससे तापने का अविवेकपूर्ण काम कर रहे हैं? क्या इनका सीधा सम्बन्ध क्षेत्रीय टकराव एवं अवसरवादिता से है जिसमें राष्ट्र को बदनाम किया जा रहा है? क्या बुद्धिजीवियों के लिए भारतीयों की ओर से प्रदत्त राष्ट्रीय पुरस्कारों को लौटा कर अपना विरोध दर्शाना उचित है? क्या उनके पास अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए और कोई अन्य रास्ता नहीं बचा? क्या उनकी लेखनी इतनी शक्तिहीन हो गयी कि उनको मौन हिंसा का मार्ग अपनाना पड़ा? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान होना ही चाहिए। सार्थक स्वस्थ चर्चा तो होनी ही चाहिए। शब्द-शास्त्र अस्त्र-शस्त्र से अधिक शक्तिशाली रहा है और कल्पांत रहेगा।।

गूगल से साभार

मानसिक रूप से उद्वेलित तथा रचनाकार परिवार के प्रति चिंतित हो जाने के बाद अपने मन की आवाज़ को सुनते हुए भारत के अन्य रचनाकारों, कलाकारों द्वारा पुरस्कार लौटाये जा रहे हैं। उनका भावनाओं में बह जाना ही स्वाभाविक था, नैसर्गिक था। भावनाओं से युक्त एवं समाज के बारे में सोचने वाला रचनाकार ही टिकता है, जैसा कि शैलेश मटियानी ने कहा और लिखा भी है। उस समय तक यह स्पष्ट नहीं था और अभी भी नहीं है, कि कलबुर्गी के हत्यारे कौन थे और यह हत्या क्यों की गयी? सूत्रों के हवाले से हत्या के दो मुख्य कारण हो सकते हैं, जिसके लिए दोनों वर्गों के लोगों ने उनको जान से मारने की धमकियां दी थीं। लिंगायतवादी प्रो. कलबुर्गी अपने ही समुदाय के कुछ विचारों की निंदा कठोर शब्दों में करते रहे हैं।

इस समुदाय की विचारधारा १२वीं शताब्दी के एक संत द्वारा शुरू हुई थी और आज केवल कर्नाटक में इसके अनुयायी करोड़ों की संख्या में हैं। इसके प्रवर्तक 'वाचन साहित्य' के जन्मदाता ११वीं शताब्दी के मोची मदारा चेन्नैया माने जाते हैं। इसके आधार पर १२वीं शताब्दी में विचारक दार्शनिक बसावा ने 'लिंगायतवादी' सम्प्रदाय को जन्म दिया था। आज इस समुदाय के लोग राजनीति में बहुत सक्रिय हैं और पहले भी रहे हैं। वर्तमान में कर्नाटक के मुख्यमंत्री लिंगायत समुदाय के ही है। इस समुदाय के लोगों ने कलबुर्गी को जान से मारने की धमकी १९८९ में दी थी और बराबर ये लोग इनके प्रगतिवादी विचारों का विरोध करते रहे हैं। इन लोगों का हाथ इस हत्या के पीछे हो सकता है और यह भी सम्भव हो सकता है कि यही लोग हत्यारे को बचा भी रहे हैं।

वास्तव में उदय प्रकाश का विरोध पुरस्कार देने वाली संस्थाओं को लेकर था। उन्होंने इस मुद्दे को राजनीति से जोड़कर नहीं कहा। उनकी शिकायत साहित्य अकादमी की उदासीनता को लेकर थी जिसके लिए उन्होंने कहा भी है कि - 'साहित्य अकादमी एक प्रकार का तमाशा आयोजित करती है। पुरस्कार प्रदान करने के बाद आपको भूल जाती है। ।जब कभी इस प्रकार की घटनाएं (कन्नड़ भाषा के प्रो. कलबुर्गी, मराठी भाषा के साहित्यत्कार गोविन्द पंसारे एवं कन्नड़ भाषा के साहित्यकार-पत्रकार 'बसाबाड़ा समावेश' के संपादक लिंगायतवाद के समर्थक ६८ वर्षीय लिंगन्ना सत्यमपेट आदि

की हत्याओं की ओर संकेत करते हुए) होती हैं तो इनकी ओर से सांत्वना या सहारे के बारे में कुछ नहीं लिखा या कहा जाता है। सारे रचनाकार एक परिवार की तरह होते हैं किन्तु इनकी कोई परवाह नहीं करता है।'

उदय प्रकाश के मार्मिक उदगार का अवसरवादियों ने लगता है बाजारीकरण प्रारम्भ कर दिया और इसकी शुरुआत की विजयलक्ष्मी पंडित जी की दूसरी पुत्री ८८ वर्षीया सुश्री नयनतारा सहगल ने, जिनको १९८६ में अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक 'अनमेकिंग ऑफ इंडिया' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। अंग्रेज़ी भाषा की विदुषी ने स्पष्ट रूप से इसे राजनीतिक मोड़ दिया और ६ अक्टूबर २०१५ को पूर्ण पुरस्कार को लौटाते हुए लिखा - 'यह भारत की विविधता एवं वाद-विवाद पर अनैतिक प्रहार होते हुए राष्ट्र को इनसे सुरक्षित रखने की असफलता दर्शाता है।' अपने इन विचारों को विस्तार देते हुए बाद में एक मुस्लिम की हत्या, जिसने या तो गोमांस खाया था या अपने पास रखा था एवं बुद्धिजीवी एम.एम कलबुर्गी, नरेंद्र दबोलकर एवं गोविन्द पंसारे आदि की हत्याओं को भी अपने पुरस्कार वापसी का कारण बताते हुए लिखा है - 'उन भारतीयों की याद में जिनकी हत्याएं हुई तथा जो असहमति रखने के अधिकार को रखते हैं या जिन्होंने अपनी असहमति व्यक्त की और भयावह अनिश्चतता का जीवन जी रहे हैं, मैं उनको याद करते हुए अपना साहित्य अकादमी का पुरस्कार लौटा रही हूँ।' इनका दृढतापूर्वक कहना है कि मतभेद रखने का अधिकार हमारे संविधान का अभिन्न अंग है। इस प्रकार विदुषी सहगल ने इस सारे प्रकरण को एक राजनीतिक मुद्दा बना दिया।

साहित्य, कला जगत एवं विज्ञान से जुड़े लोगों ने भी विदुषी सहगल का समर्थन करते हुए पुरस्कार लौटाए हैं। केंद्रीय सरकार असहिष्णु हो गयी है, यह कहते एवं लिखते हुए संविधान के उस पक्ष का सहारा लिया गया जिसके अंतर्गत गणराज्य के प्रत्येक नागरिक को अपने विचारों को व्यक्त करने एवं किसी भी धर्म को मानने अथवा किसी भी आराध्य की पूजा करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

१९८४ में दिल्ली में सिख नरसंहार, हाशिमपुरा कांड, गोधरा कांड, दादरी कांड आदि के बाद क्यों किसी साहित्यकार ने अपने पुरस्कार को वापस नहीं किये यह विचारणीय है। पिछले ६-७ दशकों में सिवाय कुछ राजनीतिक समीकरणों में आए परिवर्तन एवं प्रांतीय-क्षेत्रीय सामाजिक बदलावों के अलावा भारत अक्षुण्ण रहा है, भारतीय बदले नहीं।

दूसरी ओर यह बात उतनी ही सच्ची है कि पुरस्कार लौटने वाले सभी विद्वान आवश्यक नहीं कि किसी खास राजनीतिक विचारधारा का समर्थन करते हों। उनमें से अनेक शुद्ध एवं सच्चे साहित्यकार, कलाकार, वैज्ञानिक आदि हैं।

हर व्यक्ति को अभिव्यक्ति का अधिकार है और कुछ ग़लत होता है तो उसके प्रति विरोध दर्ज करने का भी अधिकार है, यदि वह विरोध अहिंसात्मक है। भारत दुनिया में अकेला ऐसा देश है जो इतनी विविधता होने पर भी सहिष्णु है। यह कैसा अजीब संयोग है कि जब भारत विश्व पटल पर अपनी एक नई पहचान बना रहा है, उसकी सहिष्णुता पर प्रश्न उठाएँ जा रहे हैं। पंजाब में आतंकवाद के दौर को मैंने देखा है। उस समय हमें बस में बैठने से तक डर लगता था, जब एक समुदाय के लोगों को अलग निकाल कर मार दिया जाता था। आज सोचती हूँ कि ऐसे भयानक दौर में कोई साहित्यकार आगे नहीं आया और न ही किसी ने पुरस्कार लौटाया। मैंने वह समय भी देखा है जब अचानक से मेरी कक्षा में कुछ बच्चे आए, उनसे बात करके में सहम गई थी जब उन्होंने बताया था कि कैसे उन्हें रातोंरात कश्मीर में घर छोड़ कर भागना पड़ा। उस दौर से आज के भारत की यदि तुलना की जाए तो आज यहाँ बहुत सहिष्णुता है। इस समय विश्व की जो हालत है उससे भी अगर तुलना की जाए तो भी भारत इस समय दुनिया का सबसे ज्यादा सहिष्णु देश है। इस समय भारत की सबसे बड़ी समस्या नारी सुरक्षा को लेकर है, जहाँ हर रोज़ एक निर्भया ग्रसित होती है, कोख में बेटी मार दी जाती है, पर कोई कलाकार उसके लिए आगे नहीं आता। कोई बुद्धिजीवी नहीं बोलता कि मैं नारी के इस अपमान के लिए पुरस्कार लौटा रहा हूँ। कोई कलम तलवार नहीं बनती।

डॉ. अमिता कौंडल
आण्विक जीव विज्ञानी एवं पोस्ट डॉक फैलो, अमेरिका

लेकिन इस तथ्य पर भी गौर करना होगा कि पुरस्कार लौटाने वाले अधिकांश लोगों को यह सम्मान कांग्रेस की सरकारों के दौरान प्राप्त हुआ है।

जिन लोगों ने पुरस्कार लौटाए हैं वे सब किसी न किसी रूप में भारतीय जनता का ही अनादर कर रहे हैं क्योंकि नागरिकों का पैसा ही नागरिकों की ओर से भारतीय संगठन प्रयोग में लाकर पुरस्कार दे रहे हैं। भारतीयों की सहमति से ही ये पुरस्कार दिए जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में देश-विदेश के जागरूक लोगों से बात-चीत कर एक प्रकार का सर्वेक्षण किया गया है। भारत में तथा अनेकानेक प्रवासी भारतीयों ने पुरस्कार लौटाने की प्रक्रिया की घोर निंदा की है। किसी ने भी यह नहीं बताया कि जो वे कर रहे हैं वह ठीक है। संविधान की रक्षा हो रही है। प्रान्त में हुयी तमाम वारदातों के लिए केंद्र को उत्तरदायी बनाना समझ में नहीं आता। भारतीय सहिष्णु रहे हैं और वे वही रहेंगे। यही हमारी सामूहिक शक्ति है। पुरस्कारों को लौटाने का कोई औचित्य नहीं है। मतभेदों को सुलझाने के और भी अनेक रास्ते होते हैं। ■

(लेखक के यह निजी विचार हैं।)

ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव

लेखक-समीक्षक, साहित्य एवं कला, विज्ञान एवं अध्यात्म, ज्योतिष एवं वास्तु, ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्माण्ड विज्ञान जैसे विविध विषयों पर निरंतर लेखन। ५० से अधिक शोध-पत्र विश्वविद्यालयों व राष्ट्रीय संगोष्ठियों में प्रस्तुत। विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापन का सुदीर्घ अनुभव। आजीवन सदस्य : ग्वालियर एकेडेमी ऑफ मैथमेटिकल साइंसेज, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।

सम्पर्क : २६९, जीवाजी नगर, ठाठीपुर, ग्वालियर-४७४०११

ईमेल : shrivastava.brijendra@gmail.com मोबाइल- ९४२५३६०२४३

पुरस्कार वापसी का यज्ञ किसलिए?

कुछ माह पहले की बात है, मीडिया से पता चला कि हमारा देश 'इन्टालरेन्ट' हो गया है- असहिष्णु हो गया है इसलिए क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यकार, इतिहासकार, बुद्धिजीवी और फिल्मकार अपने संस्थानों को पुरस्कार वापसी की घोषणाएं कर रहे हैं। पुरस्कार वापसकर्ताओं की भंगिमाएं आक्रोशपूर्ण तो नहीं थीं पर शब्द मर्मभेदी थे। इस वर्ग का कहना था कि देश में विचारों की स्वतंत्रता का हनन हो रहा है, बाद में देश के अलग-अलग प्रदेशों में हुई व्यक्तिगत घटनाओं को भी इसमें धर्म जाति सम्प्रदाय समुदाय विशेष के प्रति हिंसा बताकर इन्हें भी देश की असहिष्णुता का उदाहरण बना दिया गया। क्या देश वाकई असहिष्णु हो चला है? इसकी पड़ताल उन आरंभिक घटनाओं से करते हैं जो पुरस्कार वापसी का शुरुआती कारण बनी।

नरेन्द्र दाभोलकर २० अगस्त को, गोविन्द पानसरे २० फरवरी २०१५ को और कालबर्गी ३० अगस्त २०१५ को अज्ञात अतिवादियों की हिंसा का शिकार बने। इनमें दाभोलकर पेशे से डॉक्टर थे तथा १९८९ से महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निवारण समिति बनाकर जादू-टोना व अंधश्रद्धा के विरुद्ध जनजागरण का रचनात्मक कार्य कर रहे थे। उन्होंने महाराष्ट्र सरकार को २०१० में जादू-टोना निषेध विधेयक का एक प्रारूप भी दिया था। इस पर हिन्दू समाज के एक सम्प्रदाय विशेष ने ही विरोध किया था, समूचे हिन्दू समुदाय ने कभी भी विरोध नहीं किया। दाभोलकर ने फ्रांसीसी प्रेस को दिए साक्षात्कार में कहा था कि वह संविधान में दी गई उपासना की स्वतंत्रता के समर्थक हैं पर धार्मिक अंधश्रद्धा व शोषण के विरुद्ध हैं। उनका यह कथन समाज सुधार की श्रेणी में ही आता है। यह संयोग नहीं परम्परा ही है कि सभी समाज व राजनीति सुधारकों का सदैव छोटे से कट्टरवादी वर्ग से विरोध ही होता आया है।

गोविन्द पानसरे मार्क्सवादी श्रम कानून विशेषज्ञ व लेखक थे। उनके पिता की जमीन महाजनों ने दबा ली थी इसलिए बचपन संघर्ष में ही बीता। उनकी पुस्तक 'शिवाजी-कोण होता' (१९८८), के ३८ बहुभाषी संस्करण निकल चुके हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि देश उनके प्रति असहिष्णु नहीं था, प्रशंसाभाव रखता था। उन्होंने शिवाजी को पंथ, निरपेक्ष बताया, जिन्होंने मुस्लिमों को सेनापति बनाया था। यह ऐतिहासिक तथ्य है व सर्वमान्य है। इनसे शिवाजी की उदारता का ही पता चलता है। उन्होंने समाज सुधार की दृष्टि से अंतरजातीय विवाह को बढ़ावा देने की संस्था भी बनाई थी, पुत्रकामेष्टि यज्ञ का विरोध किया।

कालबर्गी ने कर्नाटक साहित्य पर छह खंड लिखे तथा साहित्य अकादमी से २००६ में पुरस्कृत हुये। लिंगायत समाज के इतिहास पर उन्होंने जो लिखा उसका लिंगायत समाज के ही अन्य जनों ने विरोध किया। अपने मर्ग-१ साहित्य खंड में लिंगायत के १२वीं सदी के मान्य दार्शनिक पर

उनकी टिप्पणियों का विरोध हुआ। २०१४ में मूर्तिपूजा के विरुद्ध उनके वक्तव्य पर धार्मिक भावना आहत करने का केस दर्ज हुआ। जून २०१४ में उन्होंने यू.आर. अनन्तमूर्ति की एक विवादित पुस्तक के अंशों का उल्लेख किया जिसका समाज के एक वर्ग विशेष ने विरोध किया।

उपरोक्त समस्त जानकारी इंटरनेट पर विशेषकर विकीपीडिया पर उपलब्ध साहित्य के आधार पर है। अब प्रश्न यह है कि क्या अंधश्रद्धा निवारक दाभोलकर, अंतरजातीय विवाह समर्थक व समर्थ लेखक पानसरे एवं लिंगायत समाज के अंतर्विरोधों पर बेवाक लिखने वाले कालबर्गी का विरोध क्या समस्त हिन्दू समाज कर रहा था? नहीं उनका विरोध उनके ही प्रदेशों में एक छोटे से कट्टर पंथी वर्ग कर रहे थे। सवा सौ करोड़ नागरिकों के देश में क्षेत्र व संस्था में अत्यन्त सीमित वर्ग का होना संभव है जो उग्र हो।

विश्व के सभी धर्म, सभी समाज, सभी देशों में अधिकतर जनता शांतिप्रिय और सहिष्णु है पर वहां भी छोटे-छोटे समूह विघ्न संतोषियों के हैं। अच्छाई के साथ बुराई धूप-छांव की तरह इस दुनिया में सदैव से रही है। यदि अब्राहम लिंकन कैनेडी को उनके रंगभेद विरोधी सुधार के कारण और महात्मा गांधी को उनकी उदारता के कारण ऐसी हिंसा का शिकार होना पड़ा था पर इस कारण समस्त देश को या धर्म, जाति को असहिष्णु नहीं कहा गया।

उपरोक्त जिन तीन नामों की चर्चा की गई है उन्होंने न्यूनाधिक रूप से समाज सुधारक की भूमिका निभाई थी इसलिए उनके प्रति सच्चा आदर व्यक्त करने का तरीका तो यह था कि उनके नाम पर पुरस्कार वापस करने वाले उनके रचनात्मक कार्यों को आगे बढ़ाने का संकल्प लेते। समाज सुधारक कभी भी पुरस्कार के लिए कार्य नहीं करते तो ऐसे समाज सुधारकों के नाम पर पुरस्कार वापस करने को क्या कहा जाए। राजनीतिक कृतज्ञता ज्ञापन या अपनी राजनीतिक विचारधारा को सर्वोपरि मानकर जनतंत्र को नकारना।

इस पुरस्कार वापसी के अभियान के एक विद्वान पी.एम. भार्गव वैज्ञानिक हैं तथा उन्हें १९८६ में पद्मभूषण से अलंकृत किया गया था। उन्होंने देश में वैज्ञानिक तेवर विकसित करने पर १९८१ में एक बयान भी तैयार किया था। तब से लेकर अब तक उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सहिष्णुता के विरुद्ध एक भी घटना नहीं दिखाई दी पर २०१५ में सहसा उन्हें देश में असहिष्णुता बढ़ती दिखी। उन्होंने अपना अलंकरण सरकार पर यह कहते हुए वापस करने की घोषणा की (वापस किया या नहीं ज्ञात नहीं) कि यह सरकार देश को हिन्दू रिलोजियस आटोक्रेसी बनाना चाहती है। विचारणीय है कि लोकतंत्र में सभी विचारधाराओं की

"साहित्य अकादमी यदि शुरू में ही कालबुर्गी की हत्या की सार्वजनिक रूप से निन्दा कर देती तो यह प्रकरण इतना तूल नहीं पकड़ता। लेकिन साहित्य अकादमी एकदम चुप रही। उदयप्रकाश ने हत्या के क़रीब बीस दिन बाद अपना पुरस्कार लौटाया था। इतना समय काफ़ी था। अगर साहित्य अकादमी को एक स्वायत्त संगठन कहा जाता है तो कम से कम अपनी ही बिरादरी के एक सदस्य की हत्या पर तो उसे निन्दा प्रस्ताव पारित करने का हक भी है। बाद में जब साहित्य अकादमी ने निन्दा प्रस्ताव जारी भी किया तो वह इतना हलका और बोदा था कि जैसे निन्दा नहीं अपना बचाव कर रहे हों। अकादमी की असली राजनीति से सभी परिचित हैं। पहले यह नामवर सिंह गुट के हाथ में थी, अब दक्षिणपन्थियों के हाथ में है।"

अनिल जनविजय
कवि, अध्यापक एवं अनुवादक, मास्को

सरकारें बनती बदलती हैं। इंग्लैंड में और अमेरिका में भी इसी प्रकार विचारधारा के अनुसार सरकारें बदलती रहती हैं। ऐसे में पुरस्कार वापसी को क्या लोकतंत्र व जनादेश का अपमान नहीं माना जा सकता? वैज्ञानिक पी.एम. भार्गव स्वयं विरोधी विचारधारा के प्रति कितने उदार हैं यह उनके द्वारा हैदराबाद उच्च न्यायालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा एन.डी.ए. के शासन में ज्योतिर्विज्ञान पाठ्यक्रम आरंभ किये जाने के विरुद्ध लगाई गई याचिका से सिद्ध होता है। उच्च न्यायालय ने उनकी याचिका को तथा बाद में उच्चतम न्यायालय ने उनकी अपील ४ जुलाई २००४ को खारिज कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने इसी प्रकार की याचिका के विरुद्ध दायर याचिका में न्यायमूर्ति एफ.एम. इब्राहिम कलीफुल्ला के इस निर्णय का उल्लेख किया कि शिक्षा का मूल उद्देश्य ज्ञानार्जन है अतएव विविध प्रकार के विषयों के अध्ययन की गुंजाइश होना चाहिए और चूंकि केवल इसलिए कि किसी विषय का आधार अथवा मूल किसी पंथ (कल्ट)

विशेष में खोजा जा सकता है। यह नहीं माना जा सकता कि इस कारण धर्म विशेष का प्रचार होगा। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि हम मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय से सहमत हैं। (पी.एम. भार्गव बनाम यू.जी.सी. अपील सिविल संख्या ५८८६/२००२) गौरतलब है कि भविष्य कथन करना प्रत्येक विज्ञान का उद्देश्य होता है तथा भविष्य के प्रति जिज्ञासा मनुष्य के जीन्स में ही है। अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों में आज भी ज्योतिर्विज्ञान पर कोर्स चल रहे हैं। इसलिए इसके ज्ञान अर्जन पर कानूनी रोक लगाना क्या वैचारिक स्वतंत्रता का हनन नहीं है? विरोध तो ज्योतिष के नाम पर ठगी का होना चाहिए न कि ज्योतिष का।

पुरस्कार वापसी के महारथियों की पृष्ठभूमि देखी जाए तो कमोवेश राजनीतिक ही दिखाई देती है। यह देखकर दुख और आश्चर्य होता है। इन्होंने स्वयं को उदारतावादी (लिबरल) माना है तथा शेष भारतवासियों का चाहे वे तटस्थ ही क्यों न हों कट्टरपंथी मान लिया है। २ नवंबर २०१५ के टाइम्स ऑफ इंडिया में लोकप्रिय लेखक चेतन भगत ने यह सवाल उठाया है कि भारतीय उदारतावादी वर्ग के समक्ष भारतीय परिप्रेक्ष्य की न तो समझ है और न ही उनके पास कोई हल ही है। चेतन कहते हैं कि यह अभिजात्य वर्ग है जो हिन्दुत्व को पिछड़ा मानता है और देशी भाषा बोलने वालों को भी यदि आज शीर्ष नेतृत्व दून स्कूल में पढ़ा होता या वैश्विक उच्चारण की अंग्रेजी बोलना होता तो ये उदारतावादी इनके प्रति कुछ दया दिखाते। चेतन का प्रश्न है कि इन उदारतावादियों को गुजरात दिखता है पर गोधरा नहीं दिखता। इसका उत्तर नलिन मेहता ने ६ नवंबर २०१५ के इसी अखबार में दिया है कि बहुत से उदारतावादियों ने इस्लामी कट्टर पंथ और कांग्रेसी असहिष्णुता का भी विरोध किया है। वह सूडो सैक्यूलर, सूडो इन्टलैक्चुअल और सूडो लिबरल के आरोपों को बौद्धिक वर्ग पर लागू नहीं मानते तथा मुस्लिम राजनेताओं पर लागू मानते हैं। यह बहस इस प्रकार आजादी की अभिव्यक्ति से हटकर धार्मिक एवं वर्ग भेद पर आ गई है। बरखा दत्त ने 'हम आपके योग्य नहीं' शीर्षक से यह सवाल उठाया है कि सवा सौ करोड़ जनता में शाहरुख क्यों अकेलापन महसूस करते हैं तो एक अखबार कहता है कि तीनों खानों के करोड़ों प्रशंसक हैं तथा वे करोड़ों की कमाई कर रहे हैं तब फिर देश में धार्मिक या अन्य असहिष्णुता कहां हैं? जबकि लोकप्रियता के शिखर पर बैठे इन अभिनेताओं ने घुमा-फिराकर असहिष्णुता होने की बात कही है तो आश्चर्य ही होता है। बहुसंख्यक वर्ग की धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण उनके ऐतिहासिक धर्मस्थलों से लेकर उनके सद्‌भाव तक सब दूर देखे जा सकते हैं। आज सभी धर्म, वर्ग, जाति के व्यक्ति समान अवसर पाकर उन्नति कर रहे हैं यही बड़ा प्रमाण है।

> पुरस्कार वापसी के महारथियों की पृष्ठभूमि देखी जाए तो कमोवेश राजनीतिक ही दिखाई देती है। यह देखकर दुख और आश्चर्य होता है। इन्होंने स्वयं को उदारतावादी (लिबरल) माना है तथा शेष भारतवासियों का चाहे वे तटस्थ ही क्यों न हों कट्टरपंथी मान लिया है।

सच तो यह है कि पुरस्कार वापसी से आरंभ हुआ विचार स्वतंत्रता और सहिष्णुता का यह मुद्दा पूरी तरह से निराधार है, कुछ व्यक्तियों के मनोभावों को पूरे देश की भावना बनाकर पेश करना उसे ब्रेकिंग न्यूज बनाकर चैनलों की लोकप्रियता बढ़ाना यही सब इसके पीछे है। इससे देश को कितना नुकसान हो रहा है इसकी चिन्ता कौन करेगा? सत्ताधारी नेताओं में से कुछ को तो सम्भाषण में शिष्टाचार का भी ध्यान नहीं है तथा धार्मिक मंचों से सांसद, विधायक बने ऐसे नेता असंयमित भाषा बोलते हैं। इस संबंध में एनडी टीवी के एंकर अभिज्ञान प्रकाश ने क्या ठीक नहीं कहा कि आखिर ये सब अपने पीएम से क्यों सीख नहीं लेते?

जो परस्पर शब्दवेधी बाण इस बहस में चल रहे हैं, शब्द शक्ति का जो दुरुपयोग हो रहा है उससे एक पौराणिक कथा याद आती है। प्रजापति ने इंद्र के कृत्य का बदला लेने के लिए एक यज्ञ करवाया। इस उद्देश्य से कि इंद्र को मारने वाला इस यज्ञ से पैदा हो पर मंत्र में शब्द शक्ति के दुरुपयोग से इसका ठीक उल्टा ही परिणाम निकला। इसलिए पुरस्कार वापसी के इस यज्ञ को यहीं विराम देने में ही सबकी भलाई है। जनता सब दूर एक-सी है व शांतिपसंद है। पाकिस्तान के अंसार बर्नी ट्रस्ट ने मूक बधिर गीता को वर्षों तक अपने यहां पाल-पोसकर भारत भेजा तो भारत में भटक कर आए रमजान मोहम्मद की देखभाल भोपाल की एक संस्था कर रही है और उसे स्वदेश वापस भेजने का प्रयास कर रही है। चुनावों उपचुनावों में राजनीतिक पार्टियों को जनता ही पाठ पढ़ा रही है। इसलिए राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी की इस अपील पर सभी पक्षों को ध्यान देना चाहिए कि भावनाओं को तर्क पर हावी नहीं होने दे। पुरस्कार मत लौटाओ, असहमति के मुद्दे पर चर्चा करो।■ (लेखक के यह निजी विचार हैं।)

अंशु जौहरी

गोहद, भिंड, मध्यप्रदेश में जन्म। वैद्युत् अभियांत्रिकी में स्नातकोत्तर, डिजिटल डिजाइन, सैन होजे स्टेट यूनिवर्सिटी, कैलीफोर्निया। प्रकाशित कृतियां - खण्ड काव्य- खुले पृष्ठ, कहानी संग्रह- शेष फिर, अदृश्य किनारा, कविता संग्रह- बूँद का द्वंद्व। १९९८ में इंटरनेट पर 'उद्‌गम' वैबजीन की शुरुआत तथा २००४ तक संपादन। सैन होजे, कैलीफोर्निया में ९६.१ एफ.एम. रेडियो कार्यक्रम 'उपहार' का प्रसारण और संचालन। अंग्रेजी नाटकों 'दि काईट एंड द स्वान', 'मॉम्स मॉम' तथा हिंदी नाटक 'तलाश वजूदों की' (सह-लेखन श्री लोकेश जौहरी) का कैलीफोर्निया में मंचन। संप्रति : हार्डवेयर इंजीनियर।

संपर्क : २८३९ नारकैस्ट ड्राइव, सैन होजे, कैलिफोर्निया, अमेरिका। ई-मेल : anshu@udgam.com

बीच-बहस

जब फर्क नहीं पड़ता

यह पहली बार नहीं हो रहा जब देश का बुद्धिजीवी वर्ग किसी सरकार अथवा संगठन की असंगत लगती नीतियों के प्रति अपना विरोध प्रगट करने के लिए उस संगठन अथवा सरकार द्वारा दिए गए पुरस्कार और उपाधि को लौटा रहा हो। १९१९ में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जलियावाला बाग़ हत्याकांड के उपरान्त ब्रिटिश सरकार की ठंडी प्रतिक्रिया के विरोध में १८१५ में नवाज़ी 'नाईटहुड' और 'सर' के उपाधि लौटाई थी। महात्मा गांधी ने भी अपने असहयोग आंदोलन की शुरुआत 'ब्रिटिश सरकार' को उनके द्वारा नवाजे 'कैंसर ऐ हिन्द' लौटा कर की थी।

आज के सन्दर्भ में अधिकतर लोग इस बात पर विवाद या चर्चा कर रहे है की पुरस्कार लौटाना उचित है या अनुचित, कि यह एक विशेष विचारधारा से जुड़े बुद्धीजीवियों के राजनैतिक षड्यंत्र का भाग है, कि पुरस्कार लौटाने का औचित्य क्या है? जिन लोगों ने पुरस्कार लौटाए हैं उनमें से कुछ अति वरिष्ठ साहित्यकार और कलाकार हैं और कुछ का ऐसा भी मानना है कि यह अतीत में गुम हुयी ख्याति को दुबारा पाने का एक दुर्बल-सा प्रयास है। क्योंकि ऐसा क्या नया हो गया जो पहले नहीं हुआ, जिसके लिए पहले पुरस्कार नहीं लौटाएं गए। इससे पहले भी हिंसा हुई, संगीन, बर्बर काण्ड हुए, किन्तु तब कोई आगे क्यों नहीं आया? हो सकता है कि ये सभी बातें सच भी हो। लेकिन इतने सारे लोगो में कुछ तो ऐसे हैं, जिन्होंने सामजिक ढाँचे की दरकती बुनियादों को सम्हालने के लिए ये कदम उठाया हैं। अगस्त में कुलबुर्गी की हत्या के उपरान्त उदय प्रकाश ने सबसे पहले अपना पुरस्कार लौटाने की घोषणा की थी। तदोपरांत नए मुद्दे भी जुड़ते चले गए और पुरस्कार लौटाने वाले भी।

यूं भी जब हम ये पूछने लगे कि हत्याएं तो पहले भी हुईं, लोग तो पहले भी मरे तो इसका अर्थ यह निकलता है कि हमारी संवेदनशीलता कितनी मर चुकी है। हम गाय की हत्या को पाप समझते हैं, लेकिन इंसान की हत्या के लिए बहस करते हैं कि उसका विरोध भी होना चाहिए या नहीं। इस सबसे यदि लोग असुरक्षित महसूस करते हैं तो वह गलत तो नहीं, क्योंकि जो देश और सरकार चलाते हैं, यह संवेदना उनकी ओर से आना चाहिए। इस तरह की हिंसा या किसी भी तरह की हिंसा के विरोध की जगह जब चुप्पी ले लेती है तो उसका अर्थ होता है कि हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। यह सच है कि अपराधों से जूझने के लिए पुलिस है, अपराधी को सजा देना कानून का काम है, पर जब न्याय पर से विश्वास उठ जाए, जब लोगों को ये लगने लगे कि सत्य की जीत नहीं होती तब देश, राज्य चलाने वालों का कर्त्तव्य बनता है कि वो उसे एक प्रतिपादित समस्या या प्रपंच बता कर उसका मखौल न उड़ाए, कम से कम आश्वासन तो दे, ढांढस तो बंधाये।

"हम गाय की हत्या को पाप समझते हैं, लेकिन इंसान की हत्या के लिए बहस करते हैं कि उसका विरोध भी होना चाहिए या नहीं। इस सबसे यदि लोग असुरक्षित महसूस करते हैं तो वह गलत तो नहीं, क्योंकि जो देश और सरकार चलाते हैं, यह संवेदना उनकी ओर से आना चाहिए।"

यहाँ भारत से दूर रह कर इस बात को मापना कि कितनी सहिष्णुता हमारे संस्कारों में बची है, वह उतना कठिन नहीं होता अब। यहाँ सैनजोसे के गुरुद्वारे में हर वर्ष दीपावली पर्व बड़े हर्षोल्लास से मनाया जाता रहा है, पर इस वर्ष दीपावली नहीं मनाई गयी। पूछने पर पता चला कि पंजाब में कई स्थानों और गुरुद्वारों में किन्हीं अज्ञात तत्वों ने 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के पन्ने फाड़कर उनका अनादर किया, अपवित्र किया। और क्योंकि इस विषय पर कोई कार्यवाही नहीं हुयी, उस विरोध में न केवल पंजाब के गुरुद्वारों में बल्कि यहाँ भी उस विरोध के समर्थन में दीवाली नहीं मनाई गयी।

यह समझना किसी के लिए भी मुश्किल नहीं था कि ये एक राजनीतिक दांवपेंच था, पर कौन था जो लोगो को इस खौफनाक तरीके से बांटना चाह रहा था, जिसके फलस्वरूप राजनैतिक कीचड़ उछालने का यह खेल, लहू बहाने के खेल में बदल जाने को तत्पर हो रहा है। देश की प्रगति सिर्फ आर्थिक आंकड़ों से नहीं नापी जाती। वह वहां रह रहे लोगों के जीवन स्तर से नापी जाती है। जहाँ उन्हें रहने में डर नहीं लगता, गलत को गलत कहने में डर नहीं लगता। पुरस्कार लौटाना आडम्बर हो सकता है, पर एक परिपक्व देश में निंदा का स्थान कुटिया के आँगन में होता है। संस्कृति की रक्षा के पहले संस्कृति को जानना जरूरी है, उसे ओढ़ना ज़रूरी है। उसे बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता क्योंकि बल का प्रयोग हमारी विस्तृत, संस्कृति का भाग नहीं है। पुरस्कार लौटाना सही है कि नहीं, यह निर्णय दूसरा नहीं निकाल सकता। क्योंकि पुरस्कार लौटाने वाले के मूल्य, उसकी आत्मा इसका निर्णय लेती है। ज्यादातर लोग बहती गंगा में हाथ धोते हैं पर कुछ हैं जो भागीरथी बन कर गंगा को दिशा भी देते हैं। लेकिन जब वानर सेना में वृद्धि हो तो आवश्यक होता है कि उन मुद्दों पर बातचीत की जाए।

सबसे ज़रूरी है उस निस्पंद, संवेदनहीनता प्रगट करती, निष्क्रिय और बेपरवाह लगती चुप्पी को तोड़ना जो वो लोग ओढ़ते हैं जिनके हाथ में दिशा देने की पतवार है। पुरस्कार लौटाना अपने आप बंद हो जाएगा।

ज़िद उम्मीदों को है, ज़िद है पनाह पाने की
लेकर गोद इन्हें तुम, देखो अनाथ मत कर देना। ■

(लेखक के यह निजी विचार हैं।)

प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी

कानपुर में जन्म। पढ़ाई राजघाट, वाराणसी के प्रतिष्ठित जे. कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन में हुई। १९८४ से २००१ तक वसंत कॉलेज फ़ॉर विमैन के हिन्दी विभाग की अध्यक्ष रहीं। सूरीनाम में आयोजित सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन की संयोजक। दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न साहित्यिक विभूतियों पर डॉक्यूमेंटरी फिल्मों का निर्माण। जापान, मॉरिशस, अमेरिका, इंग्लैंड सहित अनेक यूरोपीय और कैरिबियन देशों में काव्य-पाठ। सम्प्रति - नीदरलैंड स्थित 'हिन्दी यूनिवर्स फाउंडेशन' की निदेशक हैं।

सम्पर्क : Postbus 1080, 1810 KB Alkmaar, The Netherlands. email : info@pushpitaawasthi.com

पुरस्कार प्रकरण : साजिश भी नियति भी

भारत वर्ष बनाम 'इंडिया' एक उत्सवधर्मी देश है। यह उत्सवधर्मिता कुछ वर्षों से व्यसन में तब्दील हो चुकी है। राष्ट्रोत्सव, धर्मोत्सव और सांस्कृतिक उत्सवों के साथ-साथ पुरस्कारोत्सवों ने भी जोर पकड़ लिया है। पुरस्कार पाने वालों से अधिक देने वाले के चेहरे दमकते हुए दिखायी देने लगे तो इस तरह की स्थितियां उत्पन्न होना असहज नहीं है। कवि उदय प्रकाश द्वारा इस संक्रमणकालीन दौर में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' की पक्षधरता और 'असहमति के विचार पर विरोध' के नाम पर 'यह मेरी निजी प्रतिक्रिया है' के वक्तव्य के साथ पुरस्कार लौटाने की घोषणा की गयी। जिस पर (अपनी तरह से) कुछ साहित्यकारों ने अपने निजी कारणों से इस तरीके का अनुशीलन किया और विदेश खिसक लिये। जबकि उदय प्रकाश ने अपने पुरस्कार लौटाने के संदर्भ में स्पष्ट किया कि इसकी बहुत सारी कड़ियाँ हैं। कुछ किताबें प्रतिबंधित की गयीं। 'अल्टरनेटिव हिस्ट्री ऑफ हिंदुत्व' नामक किताब से दीनानाथ बत्रा ने पल्प आउट कराया। ए.के. रामानुजम की पुस्तक को दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से खारिज किया गया। 'गर्ल विद गोल्डेन पारासोल' (जाति व्यवस्था के विरुद्ध) को पल्प कराया गया। अनंतमूर्ति को धमकियां दी गयीं। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में सलमान खुरशीद के एक अंश को बाँचने नहीं दिया गया। प्रतिष्ठित, चिंतिक और विचारक गोविन्द पानसरे और नरेन्द्र दाभोलकर की हत्या की गयी। कलबुर्गी की हत्या हुई। जिन्हें साहित्य अकादमी की ओर से कोई शोकसभा तो दूर शोक-संदेश तक नहीं जारी किया गया। सारी उत्सवी सक्रियता के बावजूद साहित्य अकादमी के प्रशासकों द्वारा यह चूक तो हुई है लेकिन इसको रेखांकित करने के लिए क्या साहित्य अकादमी के पुरस्कार को लौटाना उचित है? क्या इससे साहित्य अकादमी संस्थान का अपमान नहीं होता है? भविष्य में दिये जाने वाले पुरस्कारों की क्या यह मानहानि नहीं है? साहित्य अकादमी की सारी गतिविधियों और चरित्र पर क्या यह प्रश्न चिह्न नहीं है? और फिर साहित्य अकादमी ही क्यों भारत सरकार द्वारा दिये जाने सारे पुरस्कार क्या संशय के घेरे में नहीं आ जाते हैं?

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 'अखलाक और गुलाम अली' के साथ हुई घटनाओं को अवांछित और दुर्भाग्यपूर्ण करार दिया तो लेखकों के सामने अपने आचरण पर ही प्रश्न चिह्न लग गया। ऐसे में डॉ. वैदिक का कथन है कि अखलाक की हत्या घोर अनैतिक कुकर्म था इसमें जरा भी शक नहीं, लेकिन उसका साहित्य अकादमी से क्या लेना देना था? लेखकों का कहना है कि साहित्य अकादमी ने उसकी निंदा क्यों नहीं की? या अकादमी द्वारा सम्मानित दाभोलकर पर वह चुप क्यों रही? प्रश्न यह है कि अखलाक और दाभोलकर जैसे कांड क्या पहली बार हुए हैं? और दाभोलकर की हत्या तो सोनिया-मनमोहन काल में हुई थी। क्या साहित्य अकादमी का ऐसे सब मामलों में टांग अड़ाना उचित है? उस समय सम्मान लौटाने वालों को भेड़चाल चलने की नहीं सूझी। अकेले उदय प्रकाश ने सत्साहस किया। उसी आलेख में 'लेखकों का नपुंसक गुस्सा में' डॉ. वेद प्रताप जी ने लिखा- 'हमारे साहित्यकार खुद बड़े अवसरवादी और दब्बू लोग हैं। पुरस्कारों और सम्मानों के लिए मामूली नेताओं और अफसरों के तलवे चाटते फिरते हैं अब वे भारत में तानाशाही की शिकायत करते हैं। मोदी की दादागिरी का दबे-छिपे ढंग

से इशारा करते हैं। साफ लिखने और बोलने की हिम्मत उनमें नहीं है यदि उन्हें मोदी या उसकी पार्टी या उसके समर्थकों पर गुस्सा है तो उसे लिखकर लौटाना तो नपुंसक गुस्सा है। यह बात बिल्कुल झूठी और बनावटी है कि देश में तानाशाही का माहौल है। आपातकाल में इन लोगों की घिग्घी बंधी हुई थी। मेरे जैसे सैकड़ों लेखक और विचारक तब भी डटकर अपनी बात कहते थे और आज भी कहते हैं। कोई तानाशाही लाने की हिम्मत तो करें।' (१६ अक्टूबर आलेख)

'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के संघर्ष के लिए इसी जज्बे की आवश्यकता है। आये दिन ही नहीं बल्कि प्रतिदिन मोदी और उनकी सरकार की रीतियों और नीतियों को सजग और सचेत बनाये रखने का यही एक कारगर तरीका भी हो सकता है न कि असहिष्णुता के नाम पर चलाये जा रहे इस अभियान की आवश्यकता थी। अगर गंभीरता से देखा जाये इतना सब होने के बावजूद क्या सरकार ने किसी की भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इधर कोई रोक लगायी? और जब वैदिक जी लेखकों के पुरस्कार लौटाने को नपुंसक गुस्सा करार देते हैं और यह सच भी उजागर करने से नहीं चूकते हैं- 'हमारे साहित्यकार खुद बड़े अवसरवादी और दब्बू लोग हैं। पुरस्कारों और सम्मानों के लिए मामूली नेताओं और अफसरों के तलवे चाटते फिरते हैं। अब वे भारत में तानाशाही की शिकायत करते हैं।' इस पर किसी लेखक पत्रकार ने टिप्पणी करने की हिम्मत क्यों नहीं की?

कुछ साहित्यकारों ने राष्ट्र और भारतीय साहित्य के सम्मान की रक्षा की जिम्मेदारी स्वयं ओढ़ ली है- ऐसे में जवाबी तौर पर संवेदनशील कवि चंद्रकांत देवताले का कथन महत्वपूर्ण है कि साहित्य अकादमी पुरस्कार अव्वल तो वह पुरस्कार नहीं सम्मान है, जो मुझे नहीं मेरी कविता में धड़कती आवाज को मिला है। अगर मैं लौटाऊंगा तो वो पूरे ब्याज के साथ क्योंकि उस पूंजी का मैंने इतने बरस उपभोग किया है। मैं किसी भूख से लड़ते परिवार या किताबें ना मिलने के कारण, आत्महत्या करने को मजबूर बच्चे को दूंगा। किसी वृद्धाश्रम को दूँगा और रसीद दिखाऊंगा क्योंकि वह पैसा सरकार का नहीं, जनता का है। उसे जनता को ही लौटाया जा सकता है। यह प्रबुद्ध और सजल मन-मानस की ही प्रतिक्रिया हो सकती है किसी क्षुब्ध और आत्मकेंद्रित व्यक्ति की नहीं।

पुरस्कार लौटाने वालों में अंग्रेजी भाषा सहित भारतीय भाषाओं के कई साहित्यकार हैं- उदय प्रकाश, नयनतारा सहगल (अंग्रेजी) अशोक वाजपेयी, सारा जोसफ, गुलाम नबी ख्याल, रहमान अब्बास, वरयाम संधु, गुरवचन सिंह भुल्लर, अजमेर सिंह औलख, आलमजीत सिंह, जी.एन. रंगनाथ राव, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, गणेश देवी, अनिल जोशी, कृष्णा सोबती, डी.एन. श्रीनाथ, कम्बार वीरभद्र,

आज का साहित्यकार लाभ की राजनीति में लगा हुआ है। सत्ता में शामिल होने का उसमें माद्दा नहीं है और न ही जोखिम उठाना चाहता है। साथ ही राजनीतिक तमगे से भी बचना चाहता है जिससे हर पार्टी में उसकी शिरकत बनी रहे और सत्ता के सारे सुख भोग सके तथा आम जनता के दुःखों के दोजख से भी बरी रहे।

रहमत तारीकेरे, जसविंदर, दर्शन भुट्टर, सुरजीत पातर, चमनलाल, बलदेव सिंह, होमेन बारागोहाई, निरूपमा बारागोहाई, मंत्रकांता सेन, नन्द भारद्वाज, के.के. एन दारुवाला (अंग्रेजी), अमन सेठी (अंग्रेजी), शशी देशपांडे (अंग्रेजी), के. सच्चिदानंदन, दिलीप कौर दिवाणा, राजकुमार राकेश, मुनव्वर राना, आर.के. हुदुंगी, काशीनाथ सिंह, काशीनाथ अम्बालजी, के. वीर भद्रप्पा, के. नीला, अरविन्द मालगढ़ी, पी.के. परक्कड़ आदि। एक ओर पुरस्कार लौटाने की गतिविधियां तो दूसरी ओर देश में बढ़ती असहिष्णुता के प्रतिरोध को पाखंड भी बताया जा रहा है। दोनों ओर से प्रतिक्रियाओं की तलवारें खिंची हुई है। साहित्यकारों का एक वर्ग असहिष्णुता के विरोध में है, इसके लिए उन्हें राष्ट्रपति या मानव संसाधन मंत्री को इस संदर्भ में ज्ञापन देना चाहिए था।

इन सारे हालातों के कारण यह भी कम चिंतनीय नहीं है कि भारत के राष्ट्रपति को राष्ट्रीय प्रेस दिवस को भारतीय प्रेस परिषद के समारोह में यह बताना पड़ता है कि पुरस्कार क्या है और इसका सम्मान किया जाना चाहिए। वस्तुतः मीडिया और पत्रकारिता की दुनिया में छा जाने के निमित्त पुरस्कार पाने-दिलाने की जो अंतरंग कवायद होती है वह भी लोगों से छुपी नहीं है। पर इस मीडिया वालों की वास्तविक स्थिति क्या है इस संदर्भ में मीडिया के संवेदनशील हस्ताक्षर राहुल देव का कथन भी ध्यान देने योग्य है कि ये मीडिया वाले भाषाई अपाहिज हैं और आगे बौद्धिक अपाहिज होंगे। जबकि इस पूरे प्रकरण में मीडिया के कारण ही अधिक घमासान मचा हुआ है जो असहिष्णुता के हालात को और अधिक बढ़ावा देने में घी का काम कर रहा है।

आज का साहित्यकार लाभ की राजनीति में लगा हुआ है। सत्ता में शामिल होने का उसमें माद्दा नहीं है और न ही जोखिम उठाना चाहता है। साथ ही राजनीतिक तमगे से भी बचना चाहता है जिससे हर पार्टी में उसकी शिरकत बनी रहे और सत्ता के सारे सुख भोग सके तथा आम जनता के दुःखों के दोजख से भी बरी रहे। पर, आम जनता के साथ अपने को खड़ा हुआ भी दिखाना चाहता है जिससे सामान्य जन भी उसे अपना मसीहा मानता रहे पर भला पुतले कभी मसीहा हो पाते हैं क्या? इसीलिए भारतीय बुद्धिजीवियों का दो फाड़ हो जाना यदि एक ओर साजिश है तो दूसरी ओर नियति भी जैसे।

भ्रष्टाचार, अन्याय और असहिष्णुता का नरक सिर्फ भारत में ही नहीं है बल्कि जहां मनुष्य है और मनुष्य समाज है वहां तकरीबन ऐसी ही स्थिति है। कोई भी ओलम्पिक खेल-दक्षिण अफ्रिकी खिलाड़ियों की भागीदारी के बिना पूरा नहीं होता है। विश्व की कोई भी फुटबाल टीम उनकी उपस्थिति के बिना अधूरी है। बावजूद इसके वहां अन्याय और असहिष्णुता के विरुद्ध प्रदर्शन जारी है। दक्षिण एशियाई देशों में से फिलीपाइन की स्त्रियाँ आत्मरक्षा के निमित्त असहिष्णुता के विरुद्ध मुंह में पट्टियाँ चिपकाये प्रदर्शनरत हैं। मसोडीनिया और ग्रीस की सीमा पर अफगानिस्तान, ईरान, बांग्लादेश के समूहों में से कुछ नागरिक काले धागे से अपने ओंठ सिले हुए हैं और ठंडक में नंगी छाती पर जस्ट फ्रीडम लिखवाये हुए रेल पटरियों पर बैठे हुये हैं। विश्व के कुछ देशों में असहिष्णुता की ऐसी दारुण स्थिति है कि लोग देश छोड़कर भाग रहे हैं। दमनकारी आतंकवादी ताकतों ने उनका देश में रहना हराम कर दिया है। जीवन के लिये जितनी 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' जरूरी है उससे कहीं अधिक सुरक्षित रहेंगे तब तो मुँह खोल सकेंगे।

अमेरिका के बाद पेरिस पर हुए १३ नवंबर के आतंकवादी हमले ने विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों को हिलाकर रख दिया है। टर्की के अनतालिया जी-२० के सम्मेलन में आतंकवाद के विनाश के उपायों के लिए सारे राष्ट्र एकजुट दिखे। यूरोपीय देशों के सारे मतभेद भी एक झटके में ही नेस्तानाबूद हो गये। सीरिया सहित अन्य देशों को शरण देने के संदर्भ में यूरोपियन देशों का नजरिया ही बदल गया है। जर्मनी की एन्जला मेरकेल अब यूरोप के हर देश की सीमाबंदी की पैरवी कर रही है जिससे यूरोप के किसी भी देश में घुसने वाला व्यक्ति पूरे यूरोप में न विचरण कर सके। अमेरिका की संभावित राष्ट्रपति और पूर्व विदेश मंत्री हेलरी क्लिंटन ने शरणार्थियों के संदर्भ में अपनी नीतियां अभी से स्पष्ट कर दी है इस समय विश्व का हर देश भाषा, संस्कृति और साहित्य के स्तर पर अपने को समेटने सिमटाने में लगे हुए हैं क्योंकि वे ही किसी देश की पूंजी, विरासत और अस्मिता है। यूरोपीय देशों की सीमाओं के भीतर अंतरंग नाकेबंदी शुरू हो गई है। इस समय, विश्व में मनुष्य के चरित्र की पहचान उसका देश हो गया है। देश की सभी शक्तियां, वह सत्ता की हों या आम जनता की, बुद्धिजीवियों की हो या कलाकारों की। अपना देश, अपना नगर, अपना गांव, अपना समाज बचाने में लगी हुई है। सारे आंतरिक विरोध जो कुछ लोगों के उन्मादी शगल का परिणाम होते हैं- तिरोहित हो गये हैं। अपना देश जो उनका घर है। अपना देश- जो उनका विचार है, अपना देश जो उनका सुख है उसे शासन, सत्ता, पुलिस और मिलट्री के साथ सहजने में लगे हुए हैं। ऐसे में भारत के बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों और मीडिया के लोगों का दो फाड़ हो जाना कहां तक उचित है? जबकि ये ही राष्ट्र की मेधस्वी और दूरदर्शी शक्तियां हैं। यूरोपीय देशों की तरह ही असुरक्षा के आतंक को इन्हें भी अपने रगों और धड़कनों में अनुभव करना चाहिए उसके बिना एकजुट होने का संकल्प प्राणों का हिस्सा नहीं बन सकेगा।

> कवि उदय प्रकाश ने अपने स्तर पर जो किया वह उनकी 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के अधिकार के अंतर्गत है लेकिन असहिष्णुताजनक इन परिस्थितियों के विरुद्ध चुप्पी तोड़ने के लिये कुछ दूसरे रास्ते अपनाने चाहिए थे जिससे साहित्यिक समाज कम-से-कम दो फाड़ होने से बच जाता।

कवि उदय प्रकाश ने अपने स्तर पर जो किया वह उनकी 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के अधिकार के अंतर्गत है लेकिन असहिष्णुताजनक इन परिस्थितियों के विरुद्ध चुप्पी तोड़ने के लिये कुछ दूसरे रास्ते अपनाने चाहिए थे जिससे साहित्यिक समाज कम-से-कम दो फाड़ होने से बच जाता।

साहित्य अकादमी में पुरस्कारों को हासिल करने वालों के भी दो दल हो गये हैं जो साहित्य अकादमी के इतिहास में स्याह अक्षरों में दर्ज रहेगा और इससे पुरस्कारों का महत्व तो दल-दल में धँस ही गया है, बल्कि पुरस्कार प्राप्त साहित्यकारों की भी जैसे दो कोटियां बन गयी हैं। एक वे जिन्होंने पुरस्कार लौटाये और इस कारण वे अधिक दुस्साहसी, सृजनशील और अपने समय के प्रति सचेत व्यक्ति समझे जा रहे हैं और शेष वे जिन्होंने पुरस्कार नहीं लौटाये वे जैसे पुरस्कारोन्मुखी व्यक्ति हों। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि यदि मोदी सरकार का ही विरोध करना था तो मानव संसाधन मंत्रालय के अंतर्गत आने वाली संस्थाओं के पुरस्कार विजेताओं को भी पुरस्कार लौटाने का सलूक करना चाहिए था जो नहीं हुआ। पर दूसरे तबके के कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों और मीडिया द्वारा इस पर जमकर प्रतिक्रियायें हुई और शीतकालीन सत्र में सदन पर भी इस मुद्दे पर बहस होने की भरपूर गुंजाइस है। मोदी सरकार, यद्यपि अपने समय से और अपने तरीके से जायेगी लेकिन साहित्य अकादमी के पुरस्कारों पर लगा हुआ ऐतिहासिक विरोध हमेशा कलंक की तरह दर्ज रहेगा। जिसे समय भी नहीं मिटा सकता है यही इतिहास की विशिष्टता है और अतीत की भी जो बीतकर भी नहीं बीत पाता है। स्मृतियों की धड़कनों में जख्म की तरह हमेशा महसूस होता रहता है। और इस संगीन समय के अंत में कवि शमशेर बहादुर सिंह की इन पंक्तियों के साथ-

बात बोलेगी, हम नहीं
भेद खोलेगी, बात ही... ■ (लेखक के यह निजी विचार हैं।)

गुलाबचंद यादव

१ जनवरी १९६५, जौनपुर (उ.प्र.)। शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी) (प्रथम श्रेणी), कार्मिक प्रबंध में डिप्लोमा । वर्तमान में पीएचडी (मुंबई विश्वविद्यालय) के लिए शोध कार्य जारी। संप्रति : आईडीबीआई बैंक के बेंगलुरु अंचल कार्यालय में सहायक महाप्रबंधक (राजभाषा)। लेखनः समाचार पत्रों-पत्रिकाओं में कुछ रचनाएँ प्रकाशित। आईडीबीआई बैंक की तिमाही हिन्दी पत्रिका विकास प्रभा में अनेक लेख तथा द्विभाषी गृह पत्रिका ाश्री वयमम में कई संस्मरण/ निबंध प्रकाशित । ।क्षमा करें, मैं हिंदी अखबार नहीं पढ़ताा (ललित निबंध संग्रह) दिसंबर २०१४ में प्रकाशित।

सम्पर्क : gcyadav.mumbai@gmail.com

मन की बात

का हो फलाने, का हालचाल बा?

कुछ दिन पहले एक पुराने मित्र धर्मराज जी से अनौपचारिक चर्चा हो रही थी। चर्चा के दौरान कुछ मित्रों-परिचितों के बारे में भी जिक्र हुआ। मैंने पाया कि वे कुछ मित्रों के रवैये पर एक खास कारण से थोड़े क्षुब्ध थे। उन्होंने एक प्रश्न मेरे सामने रखा कि किसी भी शहर में जब दो मराठीभाषी, तमिलभाषी, गुजरातीभाषी या अन्य कोई भाषा बोलने वाले मित्र या परिचित मिलते हैं तो वे आपस में अपने-अपने क्षेत्र-अंचल की बोली/भाषा में बात करते हैं, तो यही बात यू.पी., बिहार के रहने वालों खासकर पूर्वी उत्तरप्रदेश के लोगों पर पूरी तरह से लागू नहीं होती है। किसी कार्यालय में, ट्रेन-बस में या अन्य किसी भी सार्वजनिक स्थान पर जब बंगाली, तमिल, गुजराती, असमिया या अन्य कोई भारतीय भाषा बोलने वाले मिलते हैं तो दिल खोलकर और आसपास खड़े अन्य भाषा-भाषी व्यक्तियों की परवाह किये बिना अपनी बोली में ही बात करते हैं। वे चाहे धंधा-व्यापार करने वाले हों या फिर नौकरी-पेशा। वे यह नहीं सोचते हैं कि हम लोग तो पढ़े-लिखे और उच्च पदों पर काम करने वाले व्यक्ति हैं, इसलिए हमें आपस में अंग्रेजी में या हिंदी में ही बात करनी चाहिए।

ऐसे लोग इस सिद्धांत में विश्वास करते हैं कि जहां व्यापार अथवा कार्यालयीन कामकाज को औपचारिकता से निपटाने की बात हो और जहां अन्य भाषा-भाषी स्टाफ सदस्यों, सहकर्मियों, ग्राहकों से भी संवाद-संप्रेषण जरूरी हो, वहां अंग्रेजी या हिंदी में अपनी बात कहना या अपने विचार प्रकट करना आवश्यक हो सकता है किन्तु जहां ऐसी बाध्यता न हो और सामने वाला व्यक्ति अपने प्रदेश, अंचल का हो, वहां अपनी बोली-भाषा में ही बात करने में कोई हेठी या बुराई नहीं है, बल्कि अपनी भाषा या बोली में कही गयी बात एक ओर जहां संवाद को विस्तारित फलक प्रदान करती है, वहीं दूसरी ओर बात करने वालों के बीच स्नेह और अपनत्व की खुशबू भी बिखेरती है।

मेरे वे मित्र इसी बात को लेकर दुःखी थे। उनकी शिकायत थी कि पता नहीं क्यों पढ़े-लिखे उत्तर भारतीय एक-दूसरे से बातचीत करते समय खड़ी बोली हिंदी का ही सहारा लेते हैं। माना कि खड़ी बोली हिंदी ही मानक हिंदी है और कामकाज और व्यापार की भाषा के रूप में भी यही व्यवहार में लायी जाती है किन्तु अनौपचारिक अवसरों पर, परिवार और अपने समुदाय के बीच संवाद करते समय इसका व्यवहार कई बार एक तरह की दूरी या आभिजात्य प्रदर्शन का सबब बन जाता है। अपनी बोली-भाषा, अपने पहनावे, रीति-रिवाज और त्यौहारों के प्रति न जाने क्यों हमारा उत्तर भारतीय समाज एक प्रकार की कुंठा या हीन भावना से ग्रसित होता जा रहा है। पता नहीं क्यों हमारे शहरों-महानगरों के ढेर सारे तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों को अपने-अपने क्षेत्र की मैथिली, भोजपुरी या अवधी मिश्रित भोजपुरी जैसी बोलियों, जो कि उनके अपने घर की, क्षेत्र की अत्यंत मीठी, सरल और सहज बोलियां हैं, का प्रयोग करने से एलर्जी है? अगर ऐसे तथाकथित पढ़े-लिखों को किसी भीड़-भाड़ वाले स्थान पर अपनी बोली में जोर से पुकारकर 'का हो फलाने, कहाँ जात हयअ!' कह दिया जाए तो वे ऐसे चौंक पड़ते हैं, मानो कहना चाहते हों, 'हे भगवान, ये कौन गंवार है जो मुझे सरेआम लज्जित करना चाहता है।' मेरे मित्र धर्मराजजी ऐसे ही तथाकथित 'फॉरवर्डों' की इसी

अपनी मिट्टी अपनी होती है और अपनी माँ अपनी माँ होती है। उसी प्रकार, अपनी बोली या भाषा, अपनी मातृबोली या मातृभाषा होती है। फिर उसे अपनाने में, उसका व्यवहार करने में, उसमें संवाद करने में संकोच या शर्म क्यों?

भाषायी हिप्पोक्रेसी से खिन्न थे। बातचीत में अपनी बोली के प्रयोग या इस्तेमाल की बात चली है तो कुछ घटनाएं याद आ रही हैं जिनका उल्लेख यहाँ मौजूं होगा। मुंबई के हमारे एक और परम मित्र हैं ललित भाई- अपनी बोली, अपने संस्कारों, रीति-रिवाजों के घोर आग्रही। एक बार मुझे उनके साथ रिक्शा पकड़कर कहीं जाना था।

उन्होंने एक रिक्शा रुकवाया। शक्लो-सूरत से साफ लग रहा था कि रिक्शा चालक यू.पी. का रहने वाला है। ललित भाई ने उससे कहा, 'काहो, जे.बी. नगर चलबऽऽ!' उसने कहा, 'बैठो।' हम बैठ गये। थोड़ा आगे जाने पर चौराह आया तो ललित भाई ने कहा, 'आगे से बाएँ मोड़ लिहअ अउर मूर्ति के सामने वाला रास्ता धई लिहअ।' रिक्शा चालक बोला, 'गाड़ी लेफ्ट में लूँ या राइट में!' मैंने मित्र का चेहरा देखा और पाया कि रिक्शा चालक के प्रत्युत्तर से अब उन्हें क्रोध आने लगा था। थोड़ा आगे जाने पर वह फिर बोला, 'अब गाड़ी कहाँ लेना है।' मित्र बोले, 'जहन्नुम में! ससुर के नाती, बड़का अंग्रेज क सार बना बाहेन, जौन खड़ी हिंदी झोंके जात हयेन। करे, तोर कौन जिला हौ?' रिक्शा वाला बोला, 'बनारस'। मित्र फिर बरसे, 'हयअ बनारस क और अपने जिला क भाषा तोहरे समझ में नाही आवत बा। चार दिन बंबई में रही लिहअ, तऽ बड़का अंग्रेज होई गयअ।' मैंने उन्हें शांत कराया और हम गंतव्य तक गये।

एक और घटना भी याद है। कुछ वर्ष पहले मुझे किसी काम से एक मित्र के घर जाना पड़ा। मित्र पूर्वी उत्तरप्रदेश के रहने वाले थे। वे कुछ जरूरी काम से कुछ देर के लिये घर से बाहर गये हुए थे। मैंने उनकी पत्नी से भोजपुरी में ही बात करनी शुरू की। किन्तु मुझे इस बात से बराबर कष्ट हो रहा था कि मैं भोजपुरी में बोल रहा था और वे प्रत्युत्तर में खड़ी बोली हिंदी में बोल रही थीं। मुझे लगा कि यह महोदया संभवतः बचपन से ही किसी बड़े शहर में पली-बढ़ी और पढ़ी-लिखी होंगी, शायद इसलिए इन्हें भोजपुरी कम आती होगी। आखिरकार मुझसे नहीं रहा गया तो मैं पूछ बैठा, 'आप कहाँ तक पढ़ी हैं?' उन्होंने जवाब दिया, 'मैं प्राइमरी तक पढ़ी हूँ।' उनका यह जवाब सुनकर मुझे धक्का-सा लगा। मैं पूछना चाहता था कि ऐसी कौन-सी मजबूरी है जो आपको भोजपुरी में बात करने से रोक रही है? किन्तु मैं सौजन्यतावश यह पूछने की हिम्मत नहीं जुटा सका। मुझे यकीन है कि हमारे पाठकगण भी कभी न कभी ऐसी विडंबनापूर्ण स्थितियों से जरूर गुजरे होंगे।

आप स्वयं विचार करें कि जिन बोलियों की मिठास भारत की सरहदों के सुदूर पार मॉरीशस, गुयाना, त्रिनिदाद, फिजी जैसे देशों तक में व्याप्त है, उससे परहेज क्यों? जिन बोलियों के लोकगीत हिन्दुस्तान के गली-कूंचों में और मॉरीशस, फिजी जैसे देशों में ही नहीं, बल्कि सात समुंदर पार त्रिनिदाद, गुयाना जैसे देशों में भी गूँजते हों, उस बोली में बात करने में लज्जा क्यों? क्या सिर्फ इसलिए कि भोजपुरी या मैथिली बोलने पर अन्य भाषा-भाषी लोग हमको-आपको 'बिहारी' या 'भैया' की श्रेणी में डाल देंगे (वैसे ऐसे नामकरण भी कुछ कम विवादास्पद नहीं हैं)। मुझे तो लगता है कि हम जितना अपनी बोली-भाषा, रीति-रिवाजों को त्यागते जायेंगे, उतना ही स्वाभिमान और संस्कृति के धरातल पर अपने-आपको कमजोर करते जाएंगे। अपनी बोली-भाषा से हमारा पलायन न केवल हमें और हमारी आने वाली पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक-भाषाई विरासत से वंचित कर देगा बल्कि हम अपनी जड़ों से भी धीरे-धीरे कटते जाएंगे। भाषा और संस्कृति के नजरिये से इस प्रकार के अकाल की स्थिति को क्या हम एक अच्छी स्थिति कहेंगे? यह सच है कि कौन आगे बढ़ना या प्रगति करना नहीं चाहता और अपने तथा अपने परिवार के लिए सुख-समृद्धि नहीं जुटाना चाहता। किन्तु, ऐसा न हो कि अपने आपको अपने दूसरे भाई-बंधुओं से श्रेष्ठ, सम्पन्न और आधुनिक साबित करने के चक्कर में हम अपनी संस्कृति और अपनी बोली, भाषा को भी तिलांजलि दे दें। जब हम यह सब भी त्याग देंगे तो गर्व और अभिमान करने के लिये हमारे पास बचेगा ही क्या?

हमारे बच्चे खूब पढ़ें-लिखें, ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर डॉक्टर, इजीनियर, वकील, प्राध्यापक, वैज्ञानिक आदि बनें, इससे इंकार नहीं है किन्तु यदि हम जान-बूझकर उन्हें अवधी, मैथिली या भोजपुरी, बुंदेली, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलने से वंचित रखते हैं अथवा उन्हें अपनी बोली नहीं सिखाते हैं तो यह निश्चित रूप से उनके और पूरे समाज के प्रति अन्याय होगा। अपनी मिट्टी अपनी होती है और अपनी माँ अपनी माँ होती है। उसी प्रकार, अपनी बोली या भाषा, अपनी मातृबोली या मातृभाषा होती है। फिर उसे अपनाने में, उसका व्यवहार करने में, उसमें संवाद करने में संकोच या शर्म क्यों? फेंक दीजिए इस संकोच के चोले को और उतार दीजिए हीनभावना की बलात् पहनी गयी इस टोपी को। जब अपने मिलें या आप अपनों के बीच हों तो यह कहने में तनिकौ सकुचाइए नहीं कि 'काहो फलाने, का हालचाल बा।'■

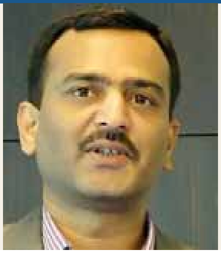

जितेंद्र जायसवाल

पत्रकारिता में स्नातक और सूचना प्रौद्योगिकी में हिंदी विषय पर नियमित लेखन। अनेक बहुराष्ट्रीय आईटी कंपनियों के भारतीयकरण में मार्गदर्शन। कई अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में स्थानीयकरण विषय पर शोधपत्र वाचन। इसी विषय पर पीएचडी भी जारी। सम्प्रति - दुनिया के पहले हिंदी पोर्टल वेबदुनिया डॉट कॉम के स्थानीयकरण विभाग में एजीएम।

सम्पर्क : jitendra@webdunia.net

हिंदी 'की-बोर्ड' का कनफ़्यूजन

विंडोज २००० में जटिल भाषाओं के लिए यूनिकोड समर्थन आने के बाद हिंदी कंप्यूटरी जगत में फैली अराजकता कुछ हद तक तो नियंत्रित हुई है। हर मोहल्ले के अपने खुद के फ़ॉन्ट का सिलसिला लगभग खत्म होने को है और इन सभी हज़ारों अलग-अलग फ़ॉन्ट को एकमैव यूनिकोड ने बेदखल कर दिया है। कंप्यूटर पर अब आप हिंदी में भी उतनी ही आसानी से काम कर सकते हैं जितनी आसानी से अंग्रेज़ी या अन्य रोमन भाषाओं में कर सकते हैं।

लेकिन एक समस्या जो अभी भी हिंदी कंप्यूटरी की दिशा में एक बड़ा प्रश्न बनकर खड़ी है वह है 'की-बोर्ड' की विविधता। बाज़ार में कुछ समय पहले तक दर्ज़नों प्रकार के 'की-बोर्ड' लेआउट हिंदी में टाइपिंग के लिए उपलब्ध थे। यह विविधता लोगों के बीच कंप्यूटर पर हिंदी टाइपिंग को लोकप्रिय बनाने में एक बड़ी चुनौती साबित हो रही थी क्योंकि इन सभी 'की-बोर्ड' को चलाना सीखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती थी। यानि अलग-अलग फ़ॉन्ट के लिए अलग-अलग अभ्यास। मान लीजिए आपको १० प्रकार के फ़ॉन्ट उपयोग करना हो तो आपको दस अलग-अलग 'की-बोर्ड' सीखने होंगे तब कहीं जाकर आप उन फ़ॉन्ट में टाइपिंग कर पाएँगे।

यूनिकोड के आगमन के बाद इस पर कुछ हद तक लगाम लगी। लेकिन समस्या पूरी तरह दूर नहीं हुई। 'की-बोर्ड' की संख्या दर्जनों से काफी कम तो जरूर हुई लेकिन एक नहीं हो पाई। लिप्यंतरण, रेमिंगटन, गोदरेज, इंस्क्रिप्ट आदि 'की-बोर्ड' अभी भी प्रचलन में बने हुए हैं। इनमें से भी यदि सर्वाधिक लोकप्रिय की बात करें तो संख्या दो से कम तो नहीं होगी- लिप्यंतरण और इंस्क्रिप्ट।

कंप्यूटर और मोबाइल पर हिंदी लेखन को लोकप्रिय और आसान बनाने के लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी की ही तरह इसका भी एक सर्वमान्य 'की-बोर्ड' हो जिसे स्कूल स्तर से ही बच्चों को सिखाया जाए। लेकिन लगता है कि हिंदी भाषी अभी इस मानकीकरण से मीलों दूर हैं क्योंकि इन दोनों में से कोई एक 'की-बोर्ड' चुनना आसान नहीं है। दोनों के अपने-

अपने उपयोगकर्ता हैं जो अपनी अपनी सुविधा के अनुसार इनका उपयोग करते हैं। दर्जनों 'की-बोर्ड' में से यदि ये दोनों वर्चस्व की अंतिम लड़ाई तक टिके हुए हैं तो जरूर इनमें कुछ न कुछ खूबियाँ होंगी। यहाँ हम इन दोनों का संक्षिप्त विश्लेषण करके देखने का प्रयास करेंगे कि कौन बेहतर है।

इनपुट मेथड एडीटर और 'की-बोर्ड' लेआउट : इससे पहले कि हम इन दोनों लेआउट पर चर्चा करें, हमें इससे जुड़ी उपरोक्त दो मूलभूत तकनीकी चीज़ों को जानना जरूरी है। चूँकि यूनिकोड फ़ॉन्ट तकनीकी रूप से पुराने ट्रूटाइप फ़ॉन्ट (कृतिदेव, श्रीलिपी आदि) से पूर्णतः अलग हैं इसलिए किसी शब्द संसाधक प्रोग्राम में सीधे इस फ़ॉन्ट को चुनकर टाइप नहीं किया जा सकता। किसी शब्द संसाधक, वेबसाइट, एप्लिकेशन या किसी अन्य स्थान पर हिंदी यूनिकोड में टाइप करने के लिए एक छोटे से टूल की आवश्यकता होती है जिसे इनपुट मेथड एडीटर या आईएमई कहा जाता है। यदि आप कंप्यूटर या मोबाइल में कंपनी से इंस्टॉल होकर आए 'की-बोर्ड' का उपयोग करते हैं तो इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

इंस्क्रिप्ट या इंडियन स्क्रिप्ट कुंजीपटल लेआउट का निर्माण सीडैक द्वारा किया गया था। सन् १९८६ में भारतीय मानक ब्यूरो ने इसे कंप्यूटर पर हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में कार्य करने के लिए मानक के रूप में अधिसूचित किया।

हिंदी की सबसे पहली आईएमई माइक्रोसॉफ़्ट ने वेबदुनिया की सहायता से इंडिका इनपुट नाम से प्रस्तुत की थी जो आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय है। उसके बाद बाज़ार में कई तरह की आईएमई उपलब्ध हुईं जिनका उपयोग सुविधानुसार किया जा सकता है। सरल शब्दों में समझें तो किसी 'की-बोर्ड' लेआउट का अर्थ यह है कि कंप्यूटर या मोबाइल के 'की-बोर्ड', जो भारत में आमतौर पर में अंग्रेज़ी होता है, की किस कुंजी को दबाने पर हिंदी का कौन-सा अक्षर, मात्रा या चिह्न टाइप होगा। 'की-बोर्ड' के इस पूरे खाके को 'की-बोर्ड' लेआउट कहते हैं। अलग-अलग 'की-बोर्ड' लेआउट का अर्थ है कि अंग्रेज़ी 'की-बोर्ड' की एक ही कुंजी को दबाने पर हिंदी के अलग-अलग अक्षरों का टाइप होना। जैसे इंस्क्रिप्ट 'की-बोर्ड' लेआउट में अंग्रेज़ी अक्षर 'h' को दबाने पर 'प' टाइप होता है, लेकिन रेमिंगटन या किसी अन्य 'की-बोर्ड' पर कोई और अक्षर टाइप होगा।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि अलग-अलग 'की-बोर्ड' लेआउट बनाने के पीछे उपयोगकर्ता की सुविधा जैसा कोई उद्देश्य नहीं था। जिस 'की-बोर्ड' लेआउट निर्माता की समझ में जो आया, वह हिंदी अक्षर अंग्रेज़ी कुंजी पर डाल दिया। कई व्यावसायिक कंपनियों ने यह स्वार्थवश भी किया ताकि उपयोगकर्ता उनसे ही जुड़े रहें। यूनिकोड के आगमन के पहले कई तरह के 'की-बोर्ड' लेआउट थे। यूनिकोड से फ़ॉन्ट एकरूप होने के कारण इनकी संख्या कम होती गई और आजकल इंस्क्रिप्ट और लिप्यंतरण ही अधिकतर प्रचलित हैं। इन दोनों में से किसी एक का चुनाव नहीं हो पा रहा है जो कि मानकीकरण के लिए आवश्यक है। कारण यह है कि दोनों लेआउट के अपने-अपने लाभ हैं तथा इनका उपयोग करने वाले उपयोगकर्ता वर्ग भी अलग-अलग हैं।

एक बात यह भी अच्छी तरह समझ ली जानी चाहिए कि आईएमई तथा 'की-बोर्ड' लेआउट दो अलग-अलग चीज़ें हैं।

इंस्क्रिप्ट : इंस्क्रिप्ट या इंडियन स्क्रिप्ट कुंजीपटल लेआउट का निर्माण सीडैक द्वारा किया गया था। सन् १९८६ में भारतीय मानक ब्यूरो ने इसे कंप्यूटर पर हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में कार्य करने के लिए मानक के रूप में अधिसूचित किया। इस कीबोर्ड लेआउट को लंबे शोध के बाद तैयार किया गया था तथा इसे भारतीय भाषाओं के लिए सबसे वैज्ञानिक लेआउट माना जाता है। इसकी निम्न खूबियाँ इसे अद्वितीय बनाती हैं :

- कुंजियों पर हिंदी वर्णों को वैज्ञानिक आधार पर व्यवस्थित किया गया है। स्वर बाईं तरफ तथा व्यंजन दाईं तरफ।
- एक अक्षर टाइप करने के लिए एक ही कुंजी दबानी पड़ती है जिससे तेज़ गति से टाइपिंग की जा सकती है।
- इस लेआउट को याद रखना बहुत आसान है। मात्र १५-२० घंटों के अभ्यास से इसे अच्छे से चलाना सीखा जा सकता है।
- अन्य भारतीय भाषाओं में लिप्यंतरण आसान है। अर्थात यदि आप हिंदी इंस्क्रिप्ट कीबोर्ड का उपयोग करके कमल टाइप करते हैं, तो बंगाली, गुजराती, तेलुगू जैसी अन्य भारतीय भाषाओं में भी आप उन्हीं कुंजियों का उपयोग करके, बिना उन भाषाओं को जाने कमल लिख सकते हैं।
- यह ध्वन्यात्मक पद्धति पर आधारित है।
- अमान्य वर्ण संयोजन अपने आप अस्वीकार कर दिए जाते हैं।
- सभी कंप्यूटरों और लगभग सभी मोबाइल फ़ोन पर पहले से इंस्टॉल किया हुआ होता है।
- टाइपिंग की अधिकतम शुद्धता संभव है।

इस तरह से मानकीकरण और टाइपिंग की वैज्ञानिकता की दृष्टि से इंस्क्रिप्ट निश्चित रूप से सबसे बेहतर कीबोर्ड लेआउट है। इसके लोकप्रिय न होने के पीछे केवल एक ही समस्या है कि अन्य कीबोर्ड की अपेक्षा भले ही कम लगे, पर इसे सीखने में कुछ समय और अभ्यास तो आवश्यक होता ही है। सामान्यतः कंप्यूटर और मोबाइल उपयोगकर्ता इतना समय निवेश करने का धैर्य नहीं रख पाते जब तक कि टाइपिंग की गति उनकी आवश्यकता न बन जाए या हिंदी में टाइप करना उनकी रोजमर्रा की आवश्यकता न हो।

लिप्यंतरण : विंडोज़ एक्सपी और ऑफ़िस २००३ के हिंदी संस्करण जब भारत में पेश हुए तब माइक्रोसॉफ़्ट ने इंडिक आईएमई नाम का एक टूल भी पेश किया जिसमें कई तरह के कीबोर्ड लेआउट थे। इन्हीं में से एक था- लिप्यंतरण या ट्रांसलिटरेशन। इस लेआउट को उन उपयोगकर्ताओं के लिए टाइपिंग को आसान बनाने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया था जो हिंदी में टाइप करना चाहते थे लेकिन कीबोर्ड अंग्रेज़ी का चलाना जानते थे। लिप्यंतरण लेआउट ने लिपि और कीबोर्ड की इस खाई को पाट दिया।

> *बेहतर टाइपिंग के लिए इंस्क्रिप्ट सबसे अच्छा विकल्प है लेकिन इसे सीखने में लगने वाला १५-२० घंटे अभ्यास इसे थोड़ा पीछे करता है। यदि इतना समय निकाल लिया जाए तो बहुत ही तेज़ गति से हिंदी में टाइप करना सीखा जा सकता है।*

माइक्रोसॉफ़्ट का लिप्यंतरण लेआउट हिंदी की बारहखड़ी पर आधारित था। हिंदी संभवतः दुनिया की एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें जैसा बोला जाता है, वैसा ही लिखा जाता है। अंग्रेज़ी में NO तथा KNOW दोनों 'नो' होते होंगे लेकिन हिंदी में राम लिखा है तो उसे राम ही पढ़ा जाएगा।

लिप्यंतरण कीबोर्ड में इसी गुण का उपयोग किया गया। अर्थात यदि आपको राम लिखना है तो आप अंग्रेज़ी कीबोर्ड से रोमन में raam लिखिए और यह लेआउट उसे हिंदी में राम में बदल देगा। जिन लोगों को अंग्रेज़ी टाइपिंग आती थी तथा जो हिंदी कीबोर्ड सीखने के लिए समय भी नहीं देना चाहते थे, उनके लिए यह लेआउट वरदान साबित हुआ तथा लोकप्रिय हुआ। इतना ज्यादा लोकप्रिय हुआ कि अन्य कीबोर्ड लेआउट का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। गूगल जैसी कंपनियों ने एक और कदम आगे जाते हुए इसमें पूर्वानुमान की सुविधा जोड़ दी जिसने इसे और बेहतर बना दिया। उपयोगकर्ता के किसी शब्द के पहले कुछ रोमन अक्षर लिखते ही यह उसे मिलते-जुलते सभी शब्द स्क्रीन पर दिखा दिए जाते हैं जिनमें से वह अपना मनचाहा शब्द चुन सकता है तथा उसे पूरा शब्द टाइप करने की आवश्यकता भी नहीं होती। जैसे जब आप kal टाइप करेंगे तो यह आपको कल, कला, काला, कलम, कलाम आदि शब्द दिखाएगा। आपको जो चाहिए वो ले लीजिए। लिप्यंतरण युवा वर्ग में सबसे अधिक उपयोग होने वाला कीबोर्ड है। मोबाइल पर हिंदी टाइपिंग के लिए लगभग सभी इसी का उपयोग करते हैं। उपरोक्त जैसी यदि इसकी कुछ खूबियाँ हैं तो कुछ कमियाँ भी हैं :

- यदि पूर्वानुमान सुविधा उपलब्ध न हो तो ढ़, ड़, ण जैसे जटिल अक्षर बनाना कठिन है।

- पूर्वानुमान सुविधा पूरी तरह पहले से आईएमई के साथ मौजूद डेटाबेस में मौजूद शब्दों पर आधारित है। अर्थात यदि डेटाबेस में कोई शब्द नहीं है तो आपको सुझाव में यह दिखाई नहीं देगा। इस स्थिति में आपके लिए जटिल शब्द लिखना मुश्किल हो सकता है। पूर्वानुमान सुविधा के बिना यह पद्धति पंगु है।

- टाइप करने के लिए तथा पूर्वानुमान से शब्द चुनने के लिए उंगलियों तथा हाथ की स्थिति बार-बार बदलनी पड़ती है जो थकाऊ है।

- एक अक्षर टाइप करने के लिए कई बार एक से अधिक कुंजियाँ दबानी पड़ती है। अर्थात टाइपिंग की धीमी गति।

- सटीकता की गारंटी नहीं है। अधिकांशतः यह पहले से मौजूद डेटाबेस या किस रोमन संयोजन से कौन-सा हिंदी अक्षर बनेगा, इस पर निर्भर है। गूगल का लिप्यंतरण अच्छा माना जाता है लेकिन इसमें कई आम शब्द नहीं हैं तथा कई गलत शब्द मौजूद हैं।

- सबसे प्रमुख बात तो हिंदी लिखने के लिए अंग्रेज़ी का प्रारंभिक ज्ञान होना चाहिए और अंग्रेज़ी में टाइपिंग आनी चाहिए।

तो क्या चुनें - इंस्क्रिप्ट या लिप्यंतरण : मानकीकरण, शुद्धता, भाषा की गरिमा तथा वैज्ञानिकता की दृष्टि से देखा जाए तो इंस्क्रिप्ट निश्चित रूप से बेहतर विकल्प है। लेकिन दोनों कीबोर्ड के पक्ष तथा विपक्ष में अपने-अपने तर्क हैं।

लिप्यंतरण के विरोध में भाषाविदों का तर्क है कि हिंदी भाषा अंग्रेजी की गुलाम नहीं है जो हिंदी लिखने के लिए अंग्रेजी का सहारा लिया जाए। अशुद्ध वर्तनी का प्रयोग बढ़ रहा है जिसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार कीबोर्ड द्वारा अशुद्ध सुझाव देना है। इससे टाइप करना हाथों के लिए भी सुविधाजनक नहीं है। हालाँकि इस सत्यता को सभी स्वीकार भी करते हैं कि कंप्यूटर तथा मोबाइल पर यदि हिंदी लेखन को बढ़ावा मिला है तो उसमें लिप्यंतरण कीबोर्ड की सरलता का बड़ा योगदान है। अन्यथा टाइपिंग सीखने के डर से हिंदी भाषी लोग भी हिंदी लिखने में डरते थे। कुछ रोमन में हिंदी लिखकर काम चलाते थे। वहीं कई लोग इसे अंग्रेजी की गुलामी नहीं मानते। उनका मानना है कि सीधे लिखी जा रही हो या अंग्रेज़ी के माध्यम से, हिंदी तो कंप्यूटर और मोबाइल पर आगे बढ़ ही रही है। उनका मत है कि फिलहाल चुनौती हिंदी का सूचना प्रौद्योगिकी में विस्तार करने की है इसलिए इसे आगे बढ़ने दो, चाहे लिप्यंतरण से यह संभव हो या इंस्क्रिप्ट से। लिप्यंतरण उन लोगों के लिए ठीक है जिन्हें अंग्रेज़ी टाइपिंग आती है तथा हिंदी लेखन का थोड़ा-बहुत ही काम पड़ता है।

बेहतर टाइपिंग के लिए इंस्क्रिप्ट सबसे अच्छा विकल्प है लेकिन इसे सीखने में लगने वाला १५-२० घंटे अभ्यास इसे थोड़ा पीछे करता है। यदि इतना समय निकाल लिया जाए तो बहुत ही तेज़ गति से हिंदी में टाइप करना सीखा जा सकता है। यदि आपको अंग्रेज़ी कीबोर्ड चलाना नहीं आता है तथा हिंदी में अधिक टाइप करना है तो यही सही पसंद होगी। कई जानकारों का मत है कि स्कूल स्तर से इसे पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए ताकि बाद में इसे सीखने में लगने वाला समय बाधा न बने। साथ ही अन्य देशों की तरह यदि भारत में बिकने वाले कीबोर्ड पर इंस्क्रिप्ट लेआउट में हिंदी अक्षरों को मुद्रित किया जाए तो इसके अभ्यास में लगने वाला समय भी कम हो सकता है तथा लोकप्रियता बढ़ सकती है। ■

सन्त समीर

१० जुलाई, १९७० को जन्म। समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर। स्वदेशी-स्वावलम्बन आन्दोलन से जुड़े रहे। वैचारिक पत्रिका *नई आज़ादी उद्‌घोष* के सम्पादक और न्यूज एजेंसी *ईएमएसस* व *क्रॉनिकल* समूह के पाक्षिक *प्रथम प्रवक्ता* से जुड़े रहे। कृतियाँ हिन्दी की वर्तनी, अच्छी हिन्दी कैसे लिखें, हिन्दी विलोम कोश, सफल लेखन के सूत्र, स्वदेशी चिकित्सा, सौन्दर्य निखार प्रकाशित। सम्प्रति - हिन्दुस्तान टाइम्स समूह से जुड़े हैं।

सम्पर्क : सी-३१९/एफ-२, शालीमार गार्डन एक्स-२, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.) ईमेल - santsameer@gmail.com

हिंदी की राह के रोड़े

हिंदी का हाल हिंदुस्तान में कैसा है, बयान कर पाना आसान नहीं। उम्मीदों से ज्यादा आशंकाएँ हैं। हिंदी का खा-खाकर मुटिया रहे लोग भी जब अंग्रेजी के ढोल-ताशे बजाने लगें तो फिर कहने को रह ही क्या जाता है? आजादी के इतने बरस बाद गुलाम मानसिकता घटने की कौन कहे, जैसे दिनोंदिन बढ़ ही रही है। कभी फादर कामिल बुल्के ने कहा था- "संस्कृत मां, हिंदी गृहिणी और अंग्रेजी नौकरानी है।" बेल्जियम से आकर हिंदी के लिए खुद को समर्पित कर देने वाले फादर ने यह कहते हुए इस बात को गहरे तक महसूस किया था कि इस देश की असल भाषाई जरूरत क्या है। वास्तव में उन्होंने संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के लिए जिन जगहों को रेखांकित किया था, उनकी प्रासंगिकता आज भी वैसी-की-वैसी है। लेकिन, दुर्भाग्य कि हमारे सत्ताधीश निरंतर जैसी परिस्थितियाँ बना रहे हैं उसमें नौकरानी राजरानी बन गई है और माँ और गृहिणी को हर दिन लतियाती-धकियाती हुई दिखाई दे रही है। माँ (संस्कृत) को तो इस हाल में लाकर छोड़ दिया गया है कि भूले से भी आप उसके पक्ष में कोई बात करते दिखाई दे जाएँ तो बिना किसी किंतु-परंतु के दकियानूसी, मनुवादी, पोंगापंथी आदि-आदि की चिप्पी आप पर चिपका दी जाएगी। हिंदी की हालत जरूर अभी इतनी दयनीय नहीं है, पर आने वाले कुछ वर्षों में इसका भी हाल वही हो जाय और यह भी विलुप्त होने के कगार पर पहुँचा दी जाए तो आश्चर्य नहीं।

कुछ लोग मेरी बात पर हँस सकते हैं और कह सकते हैं कि मैं बेवजह का स्यापा कर रहा हूँ। हिंदी उन्हें दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से प्रगति पथ पर बढ़ती हुई दिखाई दे सकती है। हालाँकि, एक अर्थ में वे गलत भी नहीं हैं। निश्चित रूप से हिंदी का संसार विस्तार कर रहा है। राष्ट्र की सीमाएँ पार कर विदेशी धरती पर भी इसने अपनी हैसियत साबित की है। सरहदों के पार निगाह दौड़ाएँगे तो हिंदी को संभावनाओं के संसार में सरपट दौड़ लगाते और संभावनाओं का खुद का एक नया संसार रचते हुए पाएँगे। यह बताने की जरूरत नहीं है कि भारतीय बाजार में पैठ की लालसा पाले विदेशी भी अब हिंदी सीखने को आतुर हैं। यदि मॉरीशस, त्रिनिदाद, दक्षिण अफ्रीका, गुयाना, सूरीनाम तथा फीजी जैसे देशों में प्रवासी भारतीय अपनी विरासत के तौर पर इस भाषा को पाल-पोस रहे हैं तो अमेरिका, ब्रिटेन, इटली,

कभी फादर कामिल बुल्के ने कहा था- "संस्कृत मां, हिंदी गृहिणी और अंग्रेजी नौकरानी है।" उन्होंने महसूस किया था कि इस देश की असल भाषाई जरूरत क्या है। वास्तव में उन्होंने संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के लिए जिन जगहों को रेखांकित किया था, उनकी प्रासंगिकता आज भी वैसी-की-वैसी है।

जर्मनी, पोलैंड, रूस, चीन, जापान, कोरिया जैसे अन्यान्य देशों के लिए यह बाजार की जरूरत बन रही है। यह सोचना भी कम अच्छा नहीं लगता कि दुनिया के डेढ़ सौ से ज्यादा महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाने लगी है। और तो और, हिंदी फिल्में सीमा के पार भी अपना बाजार बना रही हैं और हिंदी गाने अहिंदीभाषियों के कानों में रस घोलने लगे हैं। ऐसे में, जब हमारी हिंदी विश्वपटल पर एक बड़ी भूमिका में आने को तैयार दिखाई दे रही हो, तब कोई भी यह सवाल कर ही सकता है कि हमारे जैसे लोग हिंदी के हाल पर आखिर क्यों इतने बेहाल हुए जा रहे हैं?

दरअसल, हमारे जैसे लोगों की परेशानी की वजह यह है कि हिंदी के बढ़ते संसार में हिंदी की सामर्थ्य का हाथ कम बाजार की पैदा की हुई विवशताओं का हाथ ज्यादा है। कई विदेशी विश्वविद्यालयों में यदि हिंदी भी पढ़ाई जाने लगी है तो इसलिए नहीं कि यह एक समृद्ध और अभिव्यक्ति की अनगिन संभावनाओं से भरी हुई भाषा है, बल्कि इसकी ओर विदेशियों का रुझान मात्र इस कारण से है कि इसका बाजार बड़ा है। वैसे, बाजार की वजह से भी हिंदी बढ़े तो बुराई क्या है, लेकिन समझने की कोशिश करें तो यहीं पर इस भाषा के लिए एक गहरे संकट की शुरुआत होती हुई दिखाई दे जाती है। वह संकट यह है कि जिस विवशता में हिंदी का विस्तार होता हुआ आज दिख रहा है, उस विवशता को ही एकदम से दूर कर देने की जुगत में कई गुना तेजी से अंग्रेजी के विस्तार की आयोजनाएँ भी रची जा रही हैं। नई पीढ़ी को नर्सरी से ही अंग्रेजी में पारंगत किया जा रहा है। इसी देश में अंग्रेजी माध्यम के ऐसे विद्यालय खड़े हो रहे हैं, जहाँ हिंदी बोलने पर अघोषित सेंसर है। 'पापा-मम्मी' के रूप में काफी हद तक हमारे नौनिहालों का संस्कृतीकरण हो चुका है। अब गाँवों में भी 'माई', 'बाबू', 'काका' बोलना दकियानूसी और शर्म का विषय बनने लगा है। जिस गति से कांवेंटीकरण चल रहा है, उसमें 'कुकुरमुत्ते' वाला मुहावरा भी बहुत पीछे छूट गया है। हिंदी के बढ़ते विस्तार में अंग्रेजी का एक अंतर्विस्तार कहीं ज्यादा गहरा है। हिंदी धीरे-धीरे हिंग्रेजी हो रही है। हमारे कई अखबार हिंदी को अंग्रेजीमय बनाने में जोर-शोर से लगे हुए हैं।

इस पूरे परिदृश्य में अगले दो-चार दशक बाद की हिंदी का जुगराफिया पहचानने की कोशिश कीजिए तो हमारे जैसे लोगों की चिंता की वजहें भी साफ हो जाएँगी। क्या ऐसा नहीं लगता कि यही हाल रहा तो हिंदी का विस्तार रथ अगले कुछ दशकों में खुद को अंग्रेजी के साम्राज्य में खड़ा पाएगा, जहाँ उसके पहिये छिटका दिए जाएँगे और उसके घोड़े अंग्रेजी का अश्वमेध संपन्न करने का साधन बनते दिखाई देंगे? कभी आपने ध्यान दिया कि अधिकतर हिंदीभाषी भी अब मोबाइल

> *कई विदेशी विश्वविद्यालयों में यदि हिंदी भी पढ़ाई जाने लगी है तो इसलिए नहीं कि यह एक समृद्ध और अभिव्यक्ति की अनगिन संभावनाओं से भरी हुई भाषा है, बल्कि इसकी ओर विदेशियों का रुझान मात्र इस कारण से है कि इसका बाजार बड़ा है।*

पर रोमन में संदेश भेजने में सहज महसूस करने लगे हैं। की-बोर्ड ही ऐसे हैं कि आपको मजबूरी में अंग्रेजी का इस्तेमाल करना पड़े। फेसबुक और ट्विटर पर भी लोग हिंदी अकसर रोमन में लिखते दिखाई देते हैं। मैं अपने मोबाइल में लोगों के नाम-पते हिंदी में लिखकर सुरक्षित करता हूँ तो कई लोगों की मुद्रा अचरज भरी हो जाती है। यानी, आने वाले समय का अनुमान आप लगा सकते हैं। हिंदी बची हुई है तो इसलिए कि इस देश में अंग्रेजी सीखना आज भी एक हौवा है; लेकिन नई पीढ़ी, जो पाँच-छह साल की उम्र में स्कूल में दाखिला लेते ही अंग्रेजी में दीक्षित हो रही है, उसके लिए इस हौवे का भला क्या मतलब? और तब, सोचिए कि हिंदी की जगह कहाँ बचती है? अंग्रेजी के समर्थक आराम से कह सकते हैं कि आखिर हिंदी की जरूरत भी क्या है? पूरा देश अंग्रेजी सीख जाय तो परेशानी क्या है? क्या इससे पूरी दुनिया से संवाद करना हमारे लिए आसान नहीं हो जाएगा? कहने को कहा जा सकता है कि हाँ पूरी दुनिया से तो नहीं, पर अंग्रेजी बोलने वाले कुछ देशों से हमारे लोगों का संवाद जरूर आसान हो जाएगा, लेकिन यहीं पर कई प्रश्न खड़े होने लगते हैं। क्या इस देश की आम जनता को अपने रोजमर्रा के व्यवहार में विदेशियों से संवाद बनाने की जरूरत पड़ती है; या उसे रोज-रोज अपने पड़ोसी से संवाद करना होता है? क्या जरूरत भर की अंग्रेजी इस देश के कुछ प्रतिनिधियों को नहीं सिखाई जा सकती; या कि हमारा संवाद दूसरे देशों से अभी तक रुका पड़ा है? क्या देश के बच्चे-बच्चे को अंग्रेजी सिखा देना ही संवाद की समस्या का समाधान है? क्या चीन, जापान, फ्रांस, रूस, जर्मनी वगैरह यही कर रहे हैं? क्या वे अपनी भाषाओं को बचाए रखते हुए उन्हें विस्तारित करने में नहीं लगे हुए हैं? अगर वे अपनी भाषाओं को बचाए हुए हैं तो क्या हम अपनी भाषा को जिंदा रखते हुए दुनिया से संवाद के माध्यम विकसित नहीं कर सकते?

दरअसल, भाषा से भी बड़ा प्रश्न भाषा से जुड़ी अपनी सांस्कृतिक और सभ्यतागत अस्मिता का है। फ्रेंच जानने वाला अंग्रेजी में बड़े आराम से प्रवेश कर सकता है, पर फ्रांस का नागरिक अपनी भाषा से बेहद लगाव महसूस करता है तो

इसीलिए कि उसे अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की चिंता है। जापानियों, चीनियों और दूसरे तमाम देशों के साथ यही स्थिति है। भाषा महज भाषा नहीं होती। उसके साथ जाने कितनी परंपराओं का, सांस्कृतिक पहचानों का रेला चलता है। भाषा पर संकट प्रकारांतर से देश की सांस्कृतिक पहचानों पर संकट है। अभी हाल भले ही अंग्रेजी में रोजगार की अपार संभावनाएँ दिखाई दे रही हों, पर जिस दिन देश के सारे लोग अंग्रेजी में पारंगत हो चुके होंगे और अंग्रेजी में ही अपनी जीविका तलाश रहे होंगे उस दिन हमारा क्या हाल होगा? इसकी कल्पना कीजिए तो देह में सिहरन पैदा हो जाएगी। 'माया मिली न राम' वाली स्थिति हमारी होगी। न पूरी तरह अंग्रेज बन पाएँगे और न ठीक से हिंदुस्तानी रह पाएँगे। सही कहा जाए तो 'कल्चरल मंकी' यानी 'सांस्कृतिक बंदर' की शक्ल में हम दिखाई देंगे। यहीं पर एक बात पर कुछ और गहराई से सोचना चाहिए। आखिर ऐसा क्यों है कि जितने जोर-शोर से हम हिंदुस्तानी अंग्रेजी से गलबहियाँ करने में जुटे हुए हैं, वैसा किसी और देश में नहीं है। और, सिर्फ अंग्रेजी से गलबहियाँ करने की ही बात नहीं है, बल्कि इस देश में जो लोग अंग्रेजी सीख लेते हैं, उनमें से अधिकतर हिंदी को अँगूठा दिखाने में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने लगते हैं। हिंदी बोलने वाले उन्हें गँवारू लगते हैं। हिंदी-विस्तार दरअसल एक धोखा है और इसलिए कि अधिसंख्य आबादी, जो बाजार की खरीदार है, उस तक अभी हिंदी के रास्ते ही पहुँचा जा सकता है।

यहीं पर हिंदी की राह के एक और रोडे की पहचान कर लेनी चाहिए। सच तो यह है कि यही सबसे बड़ा रोडा है, जिस पर हिंदी के बड़े-बड़े विद्वानों का भी आमतौर पर ध्यान नहीं जाता। यह ऐसा रोडा है जो हिंदी की सामर्थ्य पहचानने से हमें रोकता है और हम अपनी ही भाषा से वह लगाव नहीं महसूस कर पाते जो कि होना चाहिए था। आजादी के बाद दस साल के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू ने अंग्रेजी को राजकाज में बनाए रखने की जरूरत क्या बताई कि यह आने वाले दिनों में नासूर बनता चला गया और बात यहाँ तक पहुँच गई कि जब तक देश में एक भी व्यक्ति हिंदी का विरोध करेगा तब तक अंग्रेजी चलती रहेगी। यह अजब ही हादसा हुआ देश के साथ। करोड़ों लोग अंग्रेजी का विरोध करें, हिंदी की माँग करें तो उसका कोई मूल्य नहीं, पर एक व्यक्ति भी हिंदी का विरोध कर दे तो उसकी बात सिर माथे। हिंदी को स्थापित करने का जो काम आजादी के तुरंत बाद बड़ी आसानी से हो सकता था, वह नहीं किया गया। हिंदी तब बड़े आराम से राजकाज सँभाल सकती थी। जो लोग अंग्रेजी के साथ तादात्म्य की उनभूति कर रहे थे, वे भी कोई हिंदी से अनभिज्ञ तो नहीं ही थे। निश्चित रूप से कुछ दिनों में उनकी भी आदत हिंदी में काम करने की बन ही जाती। खैर, यह न हो सका और देश के आमजन की मानसिकता को भी अंग्रेजी की तरफ मोड़ा जाने लगा। हिंदी हमारे व्यवहार की भाषा थी तो इसे चलाए रखने को हम विवश थे, पर लालसा हमारी अंग्रेजी के प्रति ही दिनोंदिन बढ़ती रही। यदि आजादी के बाद हम भी जापान की तरह का कुछ काम करते, उधार की तकनीक पर निर्भर रहने के बजाय अपनी जरूरतों के हिसाब से अपनी तकनीक विकसित करते, तो शायद विज्ञान-तकनीक के रास्ते वर्चस्व बना रही अंग्रेजी के प्रति बहुत मोह पालने की जरूरत न होती। तकनीक में हम उधारी की राह चले तो इस रास्ते आ रही भाषा और संस्कृति से भी कहाँ बचे रह सकते थे। इस सबका कुल परिणाम यह हुआ कि हम हिंदी में भले रोजमर्रा का व्यवहार चलाते रहे, पर उसके प्रति हमारे दिलों में जो लगाव रहना चाहिए था, नहीं रहा। हम कामचलाऊ हिंदी तक सीमित हो गए। यह कामचलाऊ हिंदी ही, हिंदी की राह का सबसे बड़ा रोडा है। अच्छी हिंदी सीखने की हमने जरूरत नहीं समझी। हमारे विद्यालयों में भी अधकचरी हिंदी सिखाई जा रही है, बल्कि सही कहा जाए तो हिंदी सिखाई ही कहाँ जा रही है? वह मातृभाषा ठहरी तो लोग कामचलाऊ तो यों ही सीख लेते हैं। अंग्रेजी जरूर हम जिम्मेदारी से सीखते हैं। जिन्हें ठीक से अंग्रेजी नहीं आती वे भी चार-छह अंग्रेजी व्याकरण की किताबों और शब्दकोशों के नाम बता देंगे, पर हिंदी व्याकरण और शब्दकोशों के बारे में उनसे पूछ लीजिए तो बगले झाँकने लगेंगे। हिंदी में पीएचडी कर चुके बहुत से लोगों का हाल यह है कि वे नहीं बता पाते कि हिंदी वर्णमाला में कितने वर्ण हैं, या कि 'ढ', 'श्', 'ज्ञ' जैसे चिह्न कहाँ से आ टपके? उस पर तुर्रा यह कि जो थोड़ी-बहुत हिंदी लिख लेता है, वह खुद को महान् विद्वान समझने लगता है। हिंदी के लेखकों और पत्रकारों में यह बीमारी बहुत गहरी है। कभी-कभी तो लाइलाज-सी लगती है। साहित्य की पत्रिकाओं के पन्ने पलटिए तो पता चलेगा कि हमारे लेखक कई बार लिखत-पढत से ज्यादा एक-दूसरे की नुक्ताचीं और टाँग

> "यदि आजादी के बाद हम भी जापान की तरह का कुछ काम करते, उधार की तकनीक पर निर्भर रहने के बजाय अपनी जरूरतों के हिसाब से अपनी तकनीक विकसित करते, तो शायद विज्ञान-तकनीक के रास्ते वर्चस्व बना रही अंग्रेजी के प्रति बहुत मोह पालने की जरूरत न होती।"

खिंचाई में ही मगन रहते हैं। यह बात अलग है कि नामधाम कमा चुके कई लेखकों की रचनाओं की मूल प्रतियाँ आप पढ़ लें तो माथा पीटने को मन करे। ऐसा कहने की हिम्मत मैं जुटा पा रहा हूँ तो इसलिए कि प्रमाणस्वरूप कई नामी लेखकों की मूल प्रतियाँ जहाँ-तहाँ से जुटाकर अपने पास मैंने सहेज रखी हैं।

हिंदी के पत्रकारों का हाल और अजब है। किसी पत्रकार से बात कीजिए तो अकसर ऐसा होगा कि वह अपने अगल-बगल वालों की कमियाँ और अपनी काबिलियत बघारता नजर आएगा। अगर आप उसकी हाँ में हाँ नहीं मिलाते तो आडे में जाकर किसी तीसरे से वह आपकी भी ऐसी-तैसी करता दिखाई देगा। बॉस की कुर्सी पर पहुँचने के बाद तो कम ही लोग सहज रह पाते हैं। अहंकार इतना कि अपनी गलतियों को डंके की चोट पर सही ठहराते हैं। कुछ साल पहले जब मैं अखबार के एक संस्थान में नया-नया ही शामिल हुआ था तो मेरे तब के संपादक जी ने एक दिन अपना लिखा संपादकीय मेरे पास यह सोचकर पढ़ने को भेज दिया कि कहीं कुछ हल्की-फुल्की भूल-चूक रह गई हो तो ठीक हो जाए। उन्हें यह अंदेशा नहीं था कि वे व्याकरणिक स्तर पर भी कई तरह की गलतियाँ करते हैं। ऐसा शायद इसलिए था कि तब तक उनके स्तंभ को किसी ने सुधारने की हिम्मत नहीं की थी, या कह सकते हैं कि जहमत नहीं उठाई थी। जब मैंने सात-आठ सौ शब्दों के उस लेख में बीस-पच्चीस लाल चिह्न लगा दिए तो वे बुरी तरह भड़क गए। छपते-छपाते कुछ गलतियाँ तो उन्होंने स्वीकार कीं, पर कुछ और तरह की गलतियों को सही मानने की उनकी आदत मैं बदल नहीं सकता था; सो वे वैसी-की-वैसी ही छपीं। वह अंक आज भी मैंने सहेज कर रखा है। वैसे, आजकल के संपादकों में कुछ लोग ऐसे हैं जो किसी शंका की स्थिति में अपने कनिष्ठों से जानकारी लेने में कोई हर्ज नहीं समझते, पर अधिकतर की स्थिति यही है कि अपनी जिद चलाने से बाज नहीं आते। भाषा के सरलीकरण के नाम पर जो अराजकता फैलाई जा रही है, उसका बहुत बड़ा कारण यही है।

आजकल के संपादकों में कुछ लोग ऐसे हैं जो किसी शंका की स्थिति में अपने कनिष्ठों से जानकारी लेने में कोई हर्ज नहीं समझते, पर अधिकतर की स्थिति यही है कि अपनी जिद चलाने से बाज नहीं आते। भाषा के सरलीकरण के नाम पर जो अराजकता फैलाई जा रही है, उसका बहुत बड़ा कारण यही है।

नई पीढ़ी में संभावनाएँ तो हैं, पर शायद उसे कुछ और सहिष्णुता का अभ्यास करने की जरूरत है। एक दिलचस्प घटना है। अपने अखबार के फीचर विभाग में लगे एक सूचना-पट्ट पर एक दिन मेरी दृष्टि पड़ी। उस पट्ट पर १५-२० शब्द लिखे थे जिनके आगे सही या गलत इंगित किया गया था। जो सही के रूप में इंगित थे उनमें से कुछ शब्दों पर मैंने आपत्ति जताई कि वे वास्तव में गलत लिखे गए हैं। उर्दू का एक शब्द था 'ईनाम'। पत्रकार मित्रों ने बताया कि यह पुरस्कार के अर्थ में प्रयोग किया गया है। मैंने कहा कि यदि ऐसा है तो सही शब्द 'इनाम' होगा, क्योंकि 'ईनाम' और 'इनाम' दोनों उर्दू के हैं और दोनों के अर्थ अलग-अलग हैं। 'ईनाम' का अर्थ है-प्रविष्ट कराना, घुसाना; जबकि 'इनाम' का अर्थ होता है-पारितोषिक या पुरस्कार। वैसे भी 'इनाम' वास्तव में उर्दू लहजे में 'इन्आम' है। खैर, एक पत्रकार साथी भले इनसान थे तो कुछ किंतु-परंतु के बाद सहजता से मान गए, पर जब मैंने 'संन्यासी' शब्द पर आपत्ति जताई तो एक दूसरे पत्रकार ने कहा कि यह बिलकुल सही शब्द है, और यह भी कि उन्हें इस शब्द के बारे में फलाँ विद्वान् ने बताया था। मैंने कहा कि यह विशुद्ध संस्कृत का शब्द है और संस्कृत में एक साथ आने वाले दो पंचमाक्षरों में से एक या दोनों हल् रूप में साथ-साथ आएँ तो वे अपने मूल रूप में ही लिखे जाएँगे। यहाँ किसी एक को अनुस्वार रूप में लिखना गलत है। उदाहरण के लिए उन्नति, सम्मति, सन्मार्ग, वाङ्मय, सन्निधि आदि-आदि। इसी तरह से 'संन्यासी' को भी सही रूप में लिखा जाएगा तो बनेगा-सन्न्यास। यह बात अलग है कि हिंदी में 'संन्यास' मानक जैसा मानकर लिखा जा रहा है तो इसे रोक पाना आसान नहीं है। इसके अलावा यह भी समझना चाहिए कि पंचमाक्षर व्यंजन होते हैं, जबकि अनुस्वार न तो व्यंजन है और न ही स्वर-यह तो इन दोनों से इतर अयोगवाह है। हुआ यह कि मेरी बात से लोग चुप तो हो गए, पर ऐसा नहीं हुआ कि वे अपनी गलती मानने को तैयार हुए हों। एक नामी समीक्षक ने एक किताब की समीक्षा लिखी और अंत में समीक्षा-कर्म के चलन के अनुसार उस किताब की व्याकरण और वर्तनी की कुछ गलतियों को रेखांकित किया, पर दुर्भाग्य यह कि उनकी तीन-चार सौ शब्दों की उस समीक्षा में ही दर्जन भर से ज्यादा गलतियाँ मेरे सामने मुँह बाए खड़ी थीं। यह भी अजब है कि हिंदी का लेखक यह ध्यान देने की जरूरत ही नहीं समझता कि उसके लिखे को कितना कुछ सुधार कर छापा गया है। हाल तो यह है कि आप अपने लेख में सही शब्द 'मूसलधार' लिखकर भेजिए तो डेस्क पर उसे 'मूसलाधार' बना दिया जाएगा। उपसंपादक इतना भी दिमाग नहीं लगाता कि यह 'मूसल' के साथ 'धार' का मामला है। 'मूसला' के साथ 'धार' या 'मूसल' के साथ 'आधार' का नहीं। मेरे साथ कई बार ऐसा हुआ है कि मेरे लिखे सही शब्दों को गलत

मानकर अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। एक बार मैंने 'गवार (एक प्रकार की फली) की सब्जी' का उल्लेख किया तो उपसंपादक महोदय ने उसे 'गँवार की सब्जी' बना दिया।

ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनसे संबंधित अनेक पृष्ठ दस्तावेज के रूप में मैंने सहेज कर रखे हुए हैं। किसी का नाम लेकर इसलिए नहीं लिख रहा हूँ कि कहीं बेवजह की टाँग-खिंचाई न शुरू हो जाए। अलबत्ता, इन घटनाओं से इतना तो पता चलता ही है कि जिनके कंधों पर आज हिंदी का भविष्य है उनका खुद का वर्तमान कैसा है। बेहद आसान हिंदी लापरवाह शिक्षण-प्रशिक्षण के चलते कठिन बना दी गई है। हिंदी पर केंद्रित बहसें इस बात में उलझा दी जाती हैं कि इसे गाँधी वाली 'हिंदुस्तानी' होना चाहिए या संस्कृतनिष्ठ और खास ढंग की परिमार्जित। हिंदी को सरल बनाने का भूत तो अजब ढंग से ही हिंदी के जाने कितने ही महारथियों के सिर पर सवार है। थोड़ा भी ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि कठिन और सरल की बहस का अधिकांश बचकानेपन से भरा हुआ है। आखिर कठिन और सरल को नापने का पैमाना क्या है? क्या उच्चारण में दिक्कत पैदा करने वाले शब्द कठिन हैं या जो शब्द चलन में कम हैं वे कठिन हैं? उच्चारण में कठिनाई हो तो बात समझ में आती है। मुखसुख का ध्यान रखना अनुचित नहीं है, पर चलन में जो शब्द नहीं हैं या कम हैं, यदि उनकी अर्थवत्ता बनती हो तो उन्हें भी क्यों न फिर से व्यवहार में लाया जाय। क्या इससे भाषा समृद्ध नहीं होगी? वास्तव में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि शब्द उन्हीं के हाथ का खिलौना बने हैं जिन्होंने सरल और कठिन के बीच विभाजन रेखा खींचने के बजाय बेहतर संप्रेषण को अपने रचना-कर्म का प्रस्थान बिंदु बनाया। इसी से जुड़ी हुई बहस है कि हिंदी को संस्कृतनिष्ठ होना चाहिए या कि इसमें से संस्कृत के शब्दों को निकाल बाहर किया जाय। जो लोग हिंदी को संस्कृत जैसा बनाना चाहते हैं उन्हें ध्यान रखना चाहिए हिंदी की भलाई यदि संस्कृत जैसी बनने में ही थी तो इसका संस्कृत से इतर विकास ही क्यों हुआ? वास्तव में हिंदी एक अलग वातावरण की जरूरत थी और उसी के अनुकूल इसका विकास हुआ। यह जरूर है कि इसने अपनी बहुत-सी ऊर्जा संस्कृत से ली है तो उसके शब्दों के टकसाल का भी यह इस्तेमाल करेगी ही। हिंदी के संग-साथ इस देश की तमाम बोलियाँ और भाषाएँ हैं तो यह उनसे भी कुछ-कुछ गलबहियाँ करती ही चलेगी। यहाँ तक की उर्दू भी कोई बेगानी भाषा नहीं है। इसी देश में पैदा हुई, पली-बढ़ी है तो हिंदी से इसका भी बहनापा रहेगा ही। लिपि को छोड़ दें तो व्याकरणिक संरचना में दोनों ही भाषाएँ ज्यादा दूर नहीं हैं। कई बार तो बोलचाल या लिखत-पढ़त में हिंदी-उर्दू के बीच कोई विभाजक रेखा आप तय ही नहीं कर सकते। मैं तो मानता हूँ कि हिंदी का यह बहुरंगी रूप कमजोरी नहीं उसकी सामर्थ्य है। अलग-अलग रूपों में हिंदी की जितनी छटाएँ संभव हैं उतनी दुनिया की किसी दूसरी भाषा में संभव नहीं हैं। अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मैथिली, उर्दू जैसी अन्यान्य बोलियों-भाषाओं के साथ आप हिंदी को अद्‌भुत सामर्थ्यवान भाषा के रूप में देख सकते हैं। हिंदी को न संस्कृतनिष्ठ बनाने का हठ पालना चाहिए और न उर्दू-निष्ठ। लिखत-पढ़त की सहज धारा में यह कुछ-कुछ संस्कृतनिष्ठ होने लगे तो क्या परेशानी; और, उर्दू का लहजा भी भाषा में रवानी पैदा करे तो भी क्या मुसीबत!

> *जो लोग हिंदी को संस्कृत जैसा बनाना चाहते हैं उन्हें ध्यान रखना चाहिए हिंदी की भलाई यदि संस्कृत जैसी बनने में ही थी तो इसका संस्कृत से इतर विकास ही क्यों हुआ?*

असल बात हिंदी के वातावरण से मेल बैठाने की है। जो बोलियाँ-भाषाएँ हिंदी के साथ सामंजस्य बनाती हुई दिखाई देती हैं उनके शब्द अपनाने पर हिंदी की समृद्धि में चार चाँद लगेंगे, पर अंग्रेजी का मसला अलग तरह का है। हिंदी के साथ इसका मेल-मिलाप अनमेल विवाह-सा है। हाँ, समय के साथ अंगेजी के जो शब्द हिंदी से मेल बैठाने लगे हैं उन्हें हम धड़ल्ले से इस्तेमाल कर ही रहे हैं, उनसे किसी को कहाँ कोई दिक्कत है! इसके अलावा, हिंदी का सौभाग्य है कि इसने संस्कृत की विज्ञानसम्मत लिपि देवनागरी को अपना कर अपनी सामर्थ्य को और पुख्ता किया है। काश! हिंदी वर्णमाला की वैज्ञानिकता और इसकी अभिव्यक्ति सामर्थ्य को पहचान कर इसे नई पीढ़ी को बताने का काम किया जाए तो शायद यह पीढ़ी भी अपनी भाषा पर एक-न-एक दिन गर्व की अनुभूति करने लगेगी। ऐसा होने लगे तो सबसे बड़ी बात यह होगी कि लोग अच्छी हिंदी सीखने के प्रति ज्यादा रुचि दिखाएँगे। और इस तरह, यदि अच्छी हिंदी के जानकारों की संख्या बढ़ने लगी, तो आज हम हिंदी में विज्ञान, समाज विज्ञान वगैरह के उम्दा लेखन का जो रोना रोते रहते हैं, उसकी नौबत नहीं आएगी। वास्तव में इसी राह पर चलते हुए भाषा पर मँडरा रहे खतरे के बादल छँट सकेंगे और शिक्षा की तमाम विधाओं में उच्चकोटि के रचनाकर्म का मार्ग प्रशस्त होगा। अंततः यही स्थिति हिंदी को सही मायने में उसकी असली जगह भी दिलाने का काम करेगी।■

सुषमा गुप्ता

बीस बरसों तक नाइजीरिया, इथियोपिया, लिसोठो तथा अमेरिका में पुस्तकालयाध्यक्ष के तौर पर कार्य किया। अफ्रीका की लोककथाओं के अलावा कम पहचाने देशों की लगभग एक हजार लोककथाओं का संकलन किया। बच्चों में हिंदू धर्म की समझ विकसित करने के लिये वेबसाइट एवं ब्लॉग http://sushmajee.blogspot.ca/2011/07/sanskriti-and-sanskar.html का संचालन।

सम्पर्क : bhagvatjee@yahoo.com

तथ्य

देश-विदेश की लोक कथाएं

लोककथाएं पूरी दुनिया में पाई जाती हैं। ये दो हजार सालों से भी पूर्व से चली आ रही हैं। पहले ये कुछ घरों तक सीमित थीं, फिर कुछ समाजों तक बढ़ीं और फिर पांच से सात सौ वर्ष पूर्व से तो ये दूसरे देशों तक भी जाने लगीं हैं। विश्व की सर्वप्रथम जानी-पहचानी लोक कथाओं का संग्रह यूनान की ईसप की कहानियों का माना जाता हैं। ईसप यूनान का एक बहुत बड़ा कहानी कहने वाला था। ये कथाएं ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के लगभग की हैं। ये ५८४ कथाएं इन्टरनेट पर अंग्रेजी में उपलब्ध हैं।

लोक कथाओं का दूसरा जाना-पहचाना संग्रह भारत में जातक कथाओं का है जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में कही सुनी जाती थी। ये कथाएं बुद्ध के पूर्वजन्मों के विषय में हैं। चाहे वे जन्म उनके मनुष्य रूप के हैं या पशु या पक्षी रूप के। जातक कथाओं में से कुछ कथाएं यूनानी, अरबी, लैटिन, पारसी और यूरोप की कई और भाषाओं में भी पायी जाती हैं। लोक कथाओं का तीसरा विशद संग्रह भारत की पंचतन्त्र की कहानियों का है, जो विष्णु शर्मा ने मूल रूप से संस्कृत में लिखी थीं। इस संग्रह का लेखन काल भी ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का बताया जाता है। ये सब कथाएं पशु-पक्षियों की हैं और पुरानी लोक कथाओं पर आधारित हैं। और क्योंकि यह भारत का सबसे अधिक अनुवादित लोक कथा संग्रह है इस की कथाएं कई देशों की लोक कथाओं में भी मिल जाती हैं।

पंचतन्त्र की कथाएं एक राजा अमरशक्ति के तीन मूर्ख पुत्र और उनके गुरू के मध्य कही सुनी गयी हैं जिनके द्वारा वह इस राजा के पुत्रों को पढ़ाता था। लोगों का विश्वास है कि ये कहानियां विश्वभर में ५० भाषाओं में २०० रूपों में पायी जाती हैं। इसके २५ रूपान्तर तो अकेले भारत में ही पाये जाते हैं। ये कहानियां भारत में बहुत प्रसिद्ध हैं। भारत के अधिकतर बच्चे इसकी कम से कम एक कहानी तो जानता ही है। हितोपदेश की कहानियां इसी से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। ११वीं शताब्दी तक इस संग्रह की कई कहानियां पारस, अरब, यूनान देश होते हुए यूरोप के कई देशों की कहानियों में जाकर मिल गयीं और फिर १६वीं शताब्दी तक तो ये कहानियां यूरोप की कई भाषाओं में मिलने लगी थीं। ये कहानियां इस्लाम आने से पहले छठी शताब्दी में ईरान में पहलवी भाषा में भी पायी जाती हैं।

इसकी कहानियां बहुत सारे विषयों पर हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक कहानी में से दूसरी कहानी निकलती जाती है जैसे पारस की अरेबियन नाइट्स की कहानियों में एक कहानी में से दूसरी कहानी निकलती है। अरेबियन नाइट्स की यद्यपि सारी कहानियां एक में से दूसरी नहीं निकलती हैं उनमें से कुछ अलग से भी आरम्भ होती हैं और अकेली ही समाप्त हो जाती है।

अरेबियन नाइट्स में पारस के बादशाह शहरयार की रानी शहरजाद उसको हर रात कहानी सुनाती थी। यह अरेबियन नाइट्स उन्हीं कहानियां का संग्रह है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख पहलवी भाषा की पुस्तक 'हजार अफसाने' में मिलता है। ये एक हजार एक कहानियां हैं और तीन वर्षों से भी अधिक समय तक चलीं।

इस पुस्तक के अधूरे शीर्षक का पहला सन्दर्भ ९वीं शताब्दी के एक प्रपत्र में मिलता है पर इसका सम्पूर्ण शीर्षक कैरों में

दुनियाभर की लोक कथाओं का हिंदी अनुवाद करते समय इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है कि ये सब लोक कथाएं हर वह पुरुष स्त्री और बच्चा पढ़ सके जो थोड़ी-सी भी हिन्दी पढ़ना जानता हो और उसे समझता हो।

१२वीं शताब्दी में ही मिलता है। कहा जाता है कि ये कहानियां लोक कथाओं के रूप में बगदाद के खलीफा हारूँ अल रशीद के समय में अर्थात ईसा पश्चात के सन् ७८६-८०८ में प्रचलित थीं।

ये सब कहानियां अरबी भाषा में हैं। अरबी भाषा से अंग्रेजी भाषा में इसका प्रथम अनुवाद १७०६ में प्रकाशित हुआ था। यह किसी एक अनुवादक का काम नहीं था वरन कई अनुवादकों का संयुक्त और वर्षों के परिश्रम का परिणाम था।

इसकी पहली आवृत्ति अरबी भाषा में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सन् १८१४ में प्रकाशित करवायी जो आजकल कलकत्ता में है। इसकी कहानियां भी बहुत सारे विषयों पर हैं।

११वीं शताब्दी में एक और कहानी संग्रह लिखा गया 'कथा सरित सागर'। यह संग्रह संस्कृत में लिखा गया था। इस पूर्ण पुस्तक का अंग्रेजी में केवल एक ही अनुवाद मिलता है जो १८८०-१८८४ में छापा गया था।

लोक कथाओं का सर्वप्रथम प्रकाशन इटली की लोक कथाओं से प्रारम्भ होता है। ७५ कहानियों का यह प्रथम संग्रह १५५० में प्रकाशित हुआ था। इसके लगभग १५० वर्ष पश्चात १७०६ में अरेबियन नाइट्स की कथाएं प्रकाशित रूप में पायी जाती हैं। उसके बाद फिर अगली शताब्दी तक कोई प्रकाशन नहीं मिलता।

लोक कथाओं के प्रकाशन का नियमित प्रारम्भ १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से इक्का दुक्का पुस्तकें प्रकाशित होने से हुआ। इसके सौ वर्ष पश्चात दो जर्मन भाइयों जेकब ग्रिम और विलहैल्म ग्रिम का लिखा हुआ उनकी परियों की कहानियों का पहला संग्रह १८१२ में प्रकाशित हुआ मिलता है। ये दोनों भाई ग्रिम्स या ग्रिम ब्रदर्स के नाम से प्रसिद्ध हैं।

नॉर्वे की लोक कथाओं के दो संग्रह १८४३ और १८५२ में प्रकाशित मिलते हैं। रूस की लोक कथाओं का पहला संग्रह अंग्रेजी में १८७३ में प्रकाशित हुआ। मुझे यह देख कर बहुत प्रसन्नता हुई कि रूसी लोक कथाओं के हिन्दी में अनुवाद का एक संग्रह इन्टरनेट पर भी उपलब्ध है। सरबिया की लोक कथाओं का संग्रह १८७४ में प्रकाशित हुआ।

इस बीच स्काटलैंड के लोक कथाओं के मुख्य संग्रहकर्ता एन्ड्रू लैंग का संग्रह प्रकाशित होना आरम्भ हुआ। ऐन्ड्रू लैंग विश्व के लोक कथाओं के सबसे बड़े संग्रहकर्ता माने जाते हैं। उन्होंने १८७८ से विभिन्न लोक कथाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया और १९१३ तक उनको पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते रहे। उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों की लोक कथाओं के साथ-साथ परियों की कहानियां और अरेबियन नाइट्स की कहानियां भी अनुवाद की हैं।

भारत की कथासरित सागर का अंग्रेजी का अनुवाद भी इसी समय में १८८० और १८८४ में दो पुस्तकों में प्रकाशित किया गया। इसके बाद इसी को १९२४ और १९२८ में विस्तार से लिखकर १० पुस्तकों में प्रकाशित किया गया।

पुर्तगाल की लोक कथाओं का संग्रह १८८२ में प्रकाशित हुआ और इटली की लोक कथाओं एक और संग्रह १८८५ में प्रकाशित हुआ।

२०वीं शताब्दी में तो लोक कथाओं के कई संग्रह प्रकाशित हुए। अफ्रीका के तन्जानिया देश के जन्जीबार द्वीप समूह के दस लोक कथाओं का एक संग्रह १९०१ में प्रकाशित हुआ। दो सौ लोक कथाओं का एक और संग्रह इतालो कैलवीनो का लिखा हुआ १९५६ में प्रकाशित मिलता है।

कुल मिला कर संसार के सभी देशों से ११०० से अधिक लोक कथाएँ हिंदी में अनुवादित की गई हैं। जिनमें से ४०० से अधिक लोक कथाएँ तो केवल अफ्रीका के देशों से ली गयी हैं।

लोक कथाओं को हिन्दी में लिखने की सीमाएँ : अनुवाद करना सरल नहीं है। हर भाषा के अपने शब्द उनके अपने अर्थ बताते हैं जो दूसरी भाषा के शब्दों से नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में दूसरे शब्दों से या कई बार उनको दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करना पड़ता है जिसमें कई बार उस वाक्य का अनुवाद खो जाता है। इसलिये मैं इसको सम्पूर्ण अनुवाद तो नहीं कहूँगी पर हाँ इनका जितना अधिक अनुवाद हो सका है उतना अनुवाद करने का प्रयास किया गया है।

एक और कठिनाई यह भी सामने आयी कि बहुत सारी कथाएं अंग्रेजी में लिखी होने के कारण शब्द-ब-शब्द अनुवादित नहीं की जा सकीं। इससे उनको हिन्दी में पढ़ने के धाराप्रवाह में बहुत रुकावट आती है। इसलिये कथा का धाराप्रवाह बनाये रखने के लिये कहीं कुछ शब्द और वाक्य जोड़े दिये गये हैं कहीं कुछ इधर-उधर किये गये हैं। पर इस धाराप्रवाह को बनाये रखने के लिये कहीं भी विषय सामग्री का बलिदान नहीं किया गया है।

इन लोक कथाओं को हिन्दी में लिखने का उद्देश्य इन्हें भारत के कम से कम हिन्दी जानने वाले जन-जन तक पहुँचाना है इसलिये इन लोक कथाओं को लिखते समय इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है कि ये सब लोक कथाएं हर वह पुरुष स्त्री और बच्चा पढ़ सके जो थोड़ी-सी भी हिन्दी पढ़ना जानता हो और उसे समझता हो। इसलिये ये सब लोक कथाएँ बोलचाल की सरल भाषा में ही लिखी गयी हैं न कि साहित्यिक कुशलता दिखाने के लिये। ■

गंगानन्द झा

बैद्यनाथ-देवघर (झारखण्ड) में जन्म। सीवान (बिहार) के डी.ए.वी स्नातकोत्तर कॉलेज में वनस्पति-शास्त्र के अध्यापन से सेवा-निवृत्त। चार्ल्स डार्विन के क्रम-विकासवाद, जवाहरलाल नेहरू के scientific temper तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन-दर्शन के समन्वय के आलोक में जीवन-पथ के प्रति अपने कौतूहल बरकरार है। सम्प्रति - चण्डीगढ़ में चिकित्सक पुत्र के साथ निवास।

सम्पर्क : ganganand.jha@gmail.com

बैठे-ठाले

जीवन-यात्रा की विस्मयकारी सम्भावनाएँ

अपने एक मजेदार आचरण को मैं भूल नहीं पाता। बचपन में मेरा मन्दिर में पूजा करने अमूमन जाना हुआ करता; सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियाँ एक ही परिसर में पास-पास प्रतिष्ठित थी। मैं सरस्वती की अत्यन्त भक्ति भाव से उनके प्रिय कहे जाने वाले 'जवा' फूल से आराधना करता, इस सावधानी के साथ कि कहीं यह आराधना लक्ष्मी की न हो जाए उनकी ओर से आँखे फेरे रहा करता, फिर जल्दी से लक्ष्मी की ओर फूल डाल देता। मुझे डर लगता था कि कहीं लक्ष्मी की आराधना से सरस्वती रुष्ट न हो जाएँ। अब लगता है कि मेरी ऐसी पूजा के कारण ही कदाचित सरस्वती और लक्ष्मी - दोनों बहनें मुझे सदा से चिढ़ाती ही रहीं।

विवाहित जीवन के लिए सहानुभूति ही यथेष्ट नहीं हुआ करती; वैवाहिक जीवन में वास्तविकता का संघात समय के साथ तनाव और उदासीनता उत्पन्न करता है। दाम्पत्य-सम्बन्ध की जीवन्तता तभी कायम रह सकती है जब प्यार– पारस्परिक सम्मान पर आधारित प्यार– इसके अन्तर्वस्तु (contents) के रूप में शामिल हो। अनुग्रह और दया का आभास मिलने से इस कोमल सम्बन्ध में मलिनता और विकृति का घुन लगने लगता है।

जहाँ तक मेरी समझदारी और रुझान की बात थी, मेरा मानना रहा है कि सन्तान के स्थापित होने से ही किसी का प्रासंगिक और उचित होना मान्य होता है। मैं समझ सकता था कि परम्परा को चुनौती देनेवालों की सन्तानों को अनुकूल परिवेश से वञ्चित होना पड़ता है। इसलिए स्वाभाविक वृद्धि और विकास के लिए उनमें अतिरिक्त निवेश तथा तत्परता का प्रयोजन होता है।

चाइल्ड केयर की एक किताब में मुझे पढ़ने को मिला था, "Learn to respect your child"। पहले मैं चौंका था, सम्मान तो बड़ों का किया जाता है, बच्चे के प्रति सम्मान से क्या तात्पर्य हो सकता है? फिर इस तथ्य पर ध्यान गया कि हर व्यक्ति की भाँति हर बच्चा भी अपना ही अनोखापन (uniqueness) लिए हुए होता है; हर की अपनी विशिष्ट क्षमताएँ होती हैं, अपनी खास रुझान होती हैं। सभी लोग सब

तरह के काम में दक्ष नहीं हो सकते, सम्मान करने का तात्पर्य बच्चे के अनोखेपन के प्रति संवेदनशील होना ही होता है अपने बच्चों के अनोखेपन को जानने-पहचानने की जरूरत होती है; उस समझ के आलोक में ही हम अपने बच्चों के लिए उचित निर्णय ले सकते हैं। पूर्वाग्रहों, तयशुदा लक्ष्यों की रोशनी में उनके लिए उचित-अनुचित की सूची बनाने से अपने को बचाने की जरूरत है। अधिकार-बोध से माँ-बाप अपने को मुक्त करने के प्रति सचेत हों और बच्चे पर प्यार तथा आस्था से अपने को सज्जित रखने का जतन करें। बच्चे के अन्दर की क्षमताओं को पूर्ण प्रकाश में लाने के लिए, उनकी प्रतिभा को उनकी मेधा में विकसित होने के लिए आवश्यक अवसर उपलब्ध कराना ही माँ-बाप का अभीष्ट होना चाहिए, न कि अपनी कुण्ठाओं, महत्वाकांक्षाओं और अपूर्ण इच्छाओं को हासिल करने का साधन। यह काफ़ी कठिन आह्वान हुआ करता है, क्योंकि स्नेहपात्र के प्रति अधिकार-बोध सामान्यतः आनुषंगिक रूप से सम्मिलित रहा करता है। मेरे लिए यह राह और भी अधिक दुरूह थी, क्योंकि समाज द्वारा उपलब्ध

एक विम्ब बनता; धरती पर के सारे बच्चे विधाता की सन्तान हैं, जिनकी देखभाल का जिम्मा उन्होंने बच्चों के अभिभावकों को दे रखा है, जैसे जमींदार लोग अपनी प्रजा को अपने खेतों का भार वितरित कर देते थे।

कराए जानेवाले सुरक्षा-कवच से वंचित होने के बावजूद उन्हें अपने लिए ससम्मान जीने के अधिकार और सुविधा को प्रतिष्ठित करने की चुनौती का सामना था।

मैंने इसी समझ के आधार पर इन तीनों भाई-बहन के प्रति अपना समीकरण स्थापित किया। इनके लिए अनुकूल परिवेश और पर्याप्त संसाधन के अभाव की प्रतीति मुझे रहा करती थी। संसाधनों की अल्पता के कारण स्थिति यह थी कि या तो तुम अपना विकास करो या अपनी सन्तान का। मैंने दूसरे विकल्प को चुनना ठीक समझा अपने पास उपलब्ध संसाधनों में से अधिक से अधिक उनकी ओर मोड़ कर। मुझे इस बात की चेतना थी या यों कहा जाए कि पल-पल पर प्रतीति हुआ करती थी कि मेरे पास उपलब्ध संसाघन काफी सीमित हैं। अपने संसाधनों की वृद्धि करने के प्रयास करने के अवसर अपनी सीमा में मैंने नहीं तलाशे, ऐसा कहना सम्पूर्ण सत्य नहीं होगा। पर इन प्रयासों से बात कुछ बनी नहीं।

"Limited resources lead to selection for within group co-operation and between group enmity.

--- Scientific American, Sept. 2003.

उपर्युक्तकथन में 'समूह' शब्द महत्वपूर्ण है। अगर हम एक समूह की सत्ता में रह पाएँ तो हमारे बीच बस सहयोग ही पनप सकेगा, अन्यथा आपसी वैमनस्य के लिए राह हमवार होगी। आपसी प्यार, स्नेह ही व्यक्तियों की चेतना और अवचेतन को एक समष्ठि की संज्ञा का एहसास देता रह सकता है। हमने भरसक इस बात का खयाल रखा था कि इन तीनों भाई-बहन में आपसी भावनात्मक बन्ध परिवर्द्धन-जन्य तनाव के प्रति पर्याप्त लचीलापन रहे; मैं बिना किसी हिचकिचाहट के आज यह कह सकता हूँ कि ऐसा ही हुआ है।

मैं कोई आध्यात्मिक किस्म का व्यक्ति नहीं रहा हूँ, पर उनको पाकर मुझे लगता रहा कि वे देव-शिशु हैं और विधाता ने हमें उनकी सम्भावनाओं को मूर्त्त करने के दायित्व के लिए चुना है। एक विम्ब बनता; धरती पर के सारे बच्चे विधाता की सन्तान हैं, जिनकी देखभाल का जिम्मा उन्होंने बच्चों के अभिभावकों को दे रखा है, जैसे जमींदार लोग अपनी प्रजा को अपने खेतों का भार वितरित कर देते थे। इसलिए मुझे इन तीनों भाई-बहन के साथ अद्भुत आनन्द मिलता रहा, कोमलता का एहसास; जैसे बीज को अंकुरित और फिर अंकुर से वृक्ष के विकास की प्रक्रिया में अपना सहयोग देना; कूटलिपि (coded script) में अन्तर्निहित संकेतों को प्रकाशित और विकसित होने के लिए परिवेश उपस्थित करने के प्रयास करना अपना अंगीकार था, न कि चित्रकार की तरह अपनी कल्पना और महत्वाकांक्षा को उन पर आरोपित करना। स्वाभाविक रूप से मैं अपने में बड़ी विनम्रता (humility) की अनुभूति करता तथा अपने सामर्थ्य की सीमाबद्धता के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती, क्योंकि अपनी समझ थी कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कवि सुकान्त भट्टाचार्य के शब्दों में 'इस धरती को अधिक उन्नत और अधिक वास योग्य बनाना होगा'। मुझे लगता रहा, कि कहीं हमारी कुण्ठाओं, अभाव तथा परिवेशजन्य विकृतियों के कारण उनकी सम्भावनाएँ अवरुद्ध न हो जाएँ। कदाचित यही कारण है कि मैंने उनके प्रति अधिकार-बोध को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया और आज भी, जब वे अपने आप के परिचय से स्थापित हैं, मेरी चेष्टा और इच्छा रहती है कि हमारे होने से उन्हें कुछ ही सही, सुविधा मिल पाए, असुविधाएँ न बढ़ें, मुझे लगता रहा है कि हमारे संसाधनों की अल्पता और विसंगतियों के कारण उनकी सम्भावनाएँ प्रभावित हुईं।

हमारा काम्य था कि वे 'आशय' अर्जित करने में समर्थ हो पाएँ और संसाधन की भूमिका में 'विषय' के महत्व को नज़र-अन्दाज़ कभी नहीं करें। विषय को सम्पत्ति नहीं, संसाधन समझकर अर्जित और उपयोग करें। विषय को साधन तथा आशय को साध्य समझने का उनका विवेक प्रखर रहा करे ।

'Success at any cost का दृष्टिकोण मुझे कभी नहीं आकर्षित कर पाया, क्योंकि मुझे लगता रहा है कि सफलता की एक ही राह होती है और वह राह है उसके लिए सही प्रयास जो कठिनाइयों से अलंकृत हुआ ही करता है; इसको तय करने का कष्ट लाघव करने का तरीका है, उस प्रयास से आनन्द ग्रहण करना सीख लेना। इसकी वज़ह यह भी हो सकती है कि शॉर्ट-कट की राह मुझे आश्वस्त नहीं कर पाती थी, संकट मालूम पड़ता था शॉर्टकट में।

Default position is truth, and deception is some sort of process you perform on truth.

-Scientific American, sept., 2003.

हमारा मानना था कि प्रतिकूल परिस्थितियों को जीने की प्रस्तुति रहने से आदमी अधिक सुसज्जित रहा करता है जीवन जीने के लिए। प्रतिकूलता डरा न पाए तो अनुकूलता

का स्वागत और आप्यायन करने का सामर्थ्य स्वतः उद्दीप्त होगा; अनुकूलता में भी विवेक प्रहरी की भूमिका में रहा करेगा। अपने लिए और अपनों के लिए मैंने सही और सुरक्षित राह समझी थी झूठ, छल और छद्म और किसी अन्य में क्षुद्रता आरोपित करने की मानसिकता से परहेज करने में। लोगों के प्रति सम्मान और नम्रता; मैंने अपने आचरण से इस मूल्यबोध और आचार-संलेख (protocol) को प्रस्तुत कर स्थापित करने का प्रयत्न किया था; शब्दों द्वारा आरोपित करना अनावश्यक, अप्रभावी और अप्रयोजनीय था मेरे लिए। मेरी समझ थी कि हमारे अकुण्ठ स्नेह, अनवरत और ऐकान्तिक ममत्व के माध्यम से ये तीनों भाई-बहन इस आचार-संलेख से सज्जित हो गए हैं।

एक विचार है कि विधाता हर व्यक्ति की जीवन-यात्रा के माध्यम से जीवन की असीम, अनन्त और विस्मयकारी सम्भावनाओं को देखना, परखना और समझना चाहता रहा है। इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिए विधाता हर व्यक्ति की जीवन-यात्रा के माध्यम से विभिन्न प्रकार के प्रयोग आयोजित करता रहता है। जो प्रयोग अधिक सम्भावनामय दिखते हैं, उन्हें वह विविधताओं से मण्डित करते रहते हुए बाधा-विपत्तियों के बीच जारी रखे रहता है; जबकि अनेक अन्य के प्रति विधाता का कोई विशेष लगाव नहीं दिखता, उनकी जीवन-यात्रा में एकरसता तथा वैचित्र्यरहित परिस्थितियाँ बनी रहती हैं।

अपने सम्बन्ध में मुझे लगता रहा है कि विधाता की असीम करुणा और आशीष मेरा पाथेय रही है। जीवन-पथ की इतनी कम समझ, निपुणता के अभाव तथा साधनों की अल्पता के बावजूद मैं टिका हुआ ही नहीं, धड़कता भी रह पाया हूँ— यही उक्त अवलोकन का आधार है।

जीवन में support & security system से अपने को मण्डित किए जाने आवश्यकता हुआ करती है: होशियार/ pragmatic लोग इस बात को जानते, समझते ही नहीं अपने आप को इसकी उपलब्धि के लिए सज्जित भी किया करते हैं, जबकि मुझे इस आधारभूत तथ्य की प्रतीति अब हुई है कि मेरी जय-यात्रा इन सबसे नासमझ (naivete)/बेपरवाह रह कर ही चलती रही, चलती रह पाई; एक ही व्याख्या हो सकती है इस व्यतिरेक की, कि विधाता का निहित उद्देश्य था मेरे माध्यम से उनके द्वारा आयोजित प्रयोग के सम्पन्न होने में। ऐसी प्रतीति सार्थकता तथा विनम्रता के एहसास से मन-प्राण को विह्वल कर देती है।

Parents learn a lot from child लोगों ने मुझसे पूछा है कि आपकी सन्तानों में ऐसी कौन-सा अनोखापन है। बहुत से परिचित ऐसे भी होंगे, जिन्होंने पूछा तो नहीं पर फिर भी यह सवाल उनका रहा है। इसका उत्तर दे पाना बड़ा आसान नहीं

रहा है मेरे लिए, क्योंकि मेरा सपना था कि अपनी सन्तानों में अपना सब कुछ इस प्रकार निवेश करूँ ताकि वे मुझसे बेहतर, अधिक उन्नत व्यक्ति हो पाएँ तथा साथ ही साथ समाज के उपयुक्त और उपयोगी अवयव बन पाएँ। परिवेश से जितना लें, उससे अधिक उसमें दें। समाज की सम्पत्ति और संसाधनों तक उनकी पहुँच और पकड़ की कसौटी को मैंने कभी भी मापदण्ड नहीं बनाया था। मेरी समझ थी कि उनकी अधिक उन्नत, दक्ष और सक्षम अवस्था आनुषंगिक रूप से संसाधनों तक उनकी पहुँच सुनिश्चित कर ही देगी; इसलिए उस सम्बन्ध में अलग से कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। मैंने अपने ममत्व और वात्सल्य को अधिकार-बोध से मुक्त रखने का सजग प्रयास हमेशा किया है। उसी पुस्तक में मैंने पढ़ा कि शिशु के प्रथम पाँच वर्ष उसकी चेतना और व्यक्तित्व की रूपरेखा के निर्धारण में नींव की भूमिका रखते हैं। पुस्तक की प्रामाणिकता की पुष्टि बब्बू, अपु और बेटी के शैशव-काल से ही झलकने लगी थी। एक डेढ़ वर्ष की आयु में ही बब्बू एकटक आसमान, पक्षी, वर्षा और अन्य चीजों को अनोखे ढंग से देखा करता, साफ लगता कि यह औसत शिशु से भिन्न है। मैं धुकधुकाने-सा लगता कि किसी विराट संभावना की ओर विधाता का संकेत है। अपु अपने बड़े भाई से बिलकुल भिन्न, बेटी की भी परिवेश के प्रति अनुक्रिया (response) बिलकुल अलग। बांग्ला में विशेष और दुर्लभ प्रतिभावान व्यक्ति के लिए 'क्षणजन्मा' संज्ञा का उपयोग किया जाता है। मुझे इस शब्द का ध्यान आता इनकी बात पर, फिर तुरत डर-सा जाता।■

ज्ञान चतुर्वेदी

२ अगस्त १९५२ को मऊरानीपुर (उ.प्र.) में जन्म। मेडिकल कॉलेज, रीवा से सभी विषयों में स्वर्णपदक लेते हुए एमबीबीएस तथा एम.डी. की डिग्री प्राप्त की। अपोलो, मद्रास तथा फ्रांस में कार्डियोलॉजी का विशेष प्रशिक्षण। कस्तूरबा हास्पिटल, बीएचईएल भोपाल में लम्बे समय तक कार्डियोलॉजी विभाग के प्रमुख रहे। प्रकाशित कृतियाँ : *नरक यात्रा, बारामासी, मरीचिका* तथा *हम न मरब* व्यंग्य उपन्यास। *प्रेत कथा, दंगे में मुर्गा, मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएँ, बिसात बिछी हैं, खामोश! नंगे हमाम में हैं, प्रत्यंचा* और *बाराखड़ी* व्यंग्य संग्रह। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में एक हजार से अधिक व्यंग्य रचनाएँ प्रकाशित। शरद जोशी सम्मान, अकादमी सम्मान, इन्दु शर्मा कथा सम्मान, चकल्लस पुरस्कार तथा पद्मश्री से सम्मानित।

सम्पर्क : ए-४०, अलकापुरी, भोपाल। ईमेल - gyanchaturvedibpl@gmail.com

तकलीफ हो, न हो फिर भी बीपी की दवायें लें?

इस बार हम ब्लडप्रेशर की बीमारी के कुछ ऐसे पक्षों की बातें करेंगे जिनके बारे में आपको लगता है कि हमें सब पता है पर वास्तव में कुछ भी पता नहीं रहता। कदाचित, हायपरटेंशन (हाईब्लड प्रेशर) ही एक ऐसी बीमारी है जिसके विषय में सभी को अपनी-अपनी तरह की इतनी गलतफहमियाँ हैं कि गिनाना कठिन, बहरहाल मैं तनिक कोशिश करके देख लेता हूँ।

थोड़ा-बहुत हाईबीपी के विषय में

हाईबीपी बहुत कॉमन बीमारी है। हो सकता है कि आपको भी निकल आए, आपको अभी नहीं है क्योंकि आपने कभी चेक ही नहीं कराया। कभी कराया तो एकाध बार ज्यादा तो निकला था। पर दूसरे डॉक्टर ने बाद में नार्मल नापा और दोनों ने नापकर या तो कुछ ठीक से बताया नहीं, या दवाएं लिख दीं या कहा कि आपको कुछ नहीं है, या कहा कि इत्ता बीपी तो इस उम्र में रहता ही है। जान लें कि लगभग सात से सैंतीस प्रतिशत तक लोगों को यह बीमारी भारत में बताई जाती है। सो, बहुत कॉमन बीमारी है। जरूर चेक कराते रहें।

यदि आपके परिवार में किसी को हाई बीपी है या आप मोटे हैं, पड़े-पड़े खटिया या बैठे-बैठे कुर्सी तोड़ते रहते हैं, निष्ठापूर्वक दारू-सिगरेट आदि पीते हैं और आपकी कमर फैलती जा रही है (औरतों में ८० सेंटीमीटर, आदमियों में ९० सेंटीमीटर से ज्यादा हो गई हो) तो अपना बीपी नियमित चेक कराते रहें। इसी ग्रुप में हाई बीपी ज्यादातर पाया जाता है। 'मेंटल टेंशन' बहुत हल्का है सर- मुझे बीपी तो नहीं हो जाएगा? ऐसा कहने वाले मिलते हैं, ऐसे भी मिलते हैं जो विश्वास ही नहीं करते कि उन्हें बीपी हो सकता है क्योंकि, 'मैं तो टेंशन पालता ही नहीं सर।' मित्रों, 'टेंशन' (मानसिक तनाव) का हाई बीपी करने में सीधा कोई रोल नहीं होता है। बस, इतना जान लें कि हाईबीपी बहुत कॉमन बीमारी है।

पर मुझे तो कोई तकलीफ ही नहीं?

डॉक्टर साहब, आप बता रहे हैं कि तुम्हें हाई बीपी है पर मुझे तो कोई कष्ट ही नहीं? मैंने तो यूं ही मेडिकल चेकअप करा लिया और फंस गया। मुझे न सिर दर्द है, न चक्कर, न छाती में दर्द, न और कुछ। अरे, यदि १६०/१००

> हाईबीपी बहुत कॉमन बीमारी है। हो सकता है कि आपको भी निकल आए, आपको अभी नहीं है क्योंकि आपने कभी चेक ही नहीं कराया। कभी कराया तो एकाध बार ज्यादा तो निकला था।

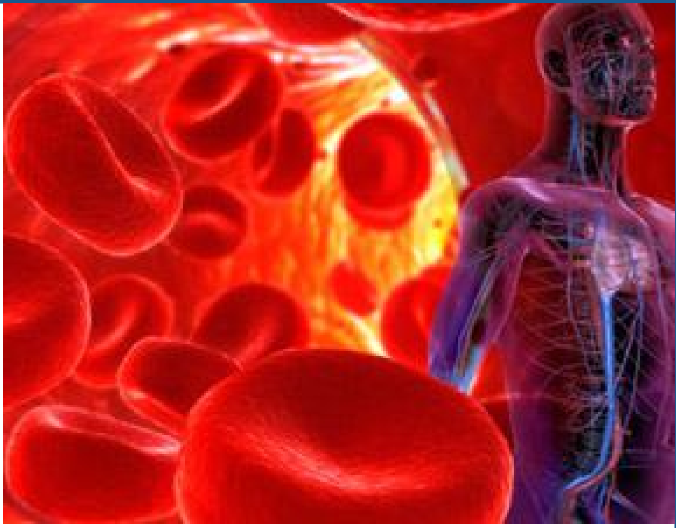

बीपी है तो कुछ तो हो? जरूर, आपकी बीपी नापने की मशीन खराब है। मरीज को भ्रम है। कई बार उसे डॉक्टर पर ही संदेह होता है। पर याद रखें कि हाई बीपी से कोई तकलीफ हो ही, यह आवश्यक नहीं।

जब तकलीफ ही नहीं तो दवाएं/परहेज क्यों?

बात ऊपर से एकदम सही लगती है। तकलीफ नहीं है, तब भी दवाई खाते जाएं, बल्कि आपको सलाह तो है कि जीवन भर खाते चले जाएं तो ऐसे सटक बेवकूफ तो हम हैं नहीं। जब तकलीफ होगी, खा लेंगे। जब कभी सिर दर्द वगैरह लगता है तो आपकी बताई बीपी की दवाएं दो-तीन दिन खा लेते हैं, बस। माना कि हाई बीपी रहता है पर रोज-रोज दवाएं क्यों खाएं साहब?

कठिन है यह समझा पाना कि अभी कुछ नहीं लगे तो भी दवाएं लें। इसे यूं समझें कि आज जो आप दवाएं ले रहे हैं वह जीवन बीमा की किस्त चुकाने जैसा है। चुकाने में कष्ट होता है, चुकाते हैं न मालूम है कि कभी मुसीबत से बचाएगी। जीवन बीमा में तो फिर भी वैसी मुसीबत शायद ही कभी आती हो परंतु हाई बीपी की दवाइयों की किस्त आपको निश्चित ही बहुत-सी मुसीबतों से बचाएगी। क्या आपको पता है कि यदि आप बीपी की दवाइयां लेकर अपना हाई बीपी कंट्रोल में नहीं रखते हैं तो कितना बड़ा खतरा उठा रहे हैं? बीपी कंट्रोल में न रहने पर आपको हार्ट अटैक की आशंका दो गुनी, लकवे की सात गुनी, हार्ट फेल्योर की तीन गुनी तथा किडनी फेल होने की दो गुनी बढ़ जाती है और इनमें से ज्यादा चीजों का कोई खास इलाज उपलब्ध ही नहीं।

तो क्या करूं?

यदि डॉक्टर ने हल्का-सा बार्डर लाइन (सीमा रेखा को छूता हुआ) हाई बीपी भी बताया है तो आपको नियमित दवाएं लेकर, नियमित जांचें कराके पक्का कर लेना चाहिए कि बीपी हमेशा १४०/९० के नीचे ही रहे। यदि साथ में मधुमेह (डायबटीज) वगैरह भी है तो बीपी और भी कम रहना चाहिए। कुछ बातें और याद रखें। बीपी की दवाएं लगभग जीवन भर चलनी हैं परंतु उनका डोज, मात्रा आदि आवश्यकतानुसार बदल सकती है। इसीलिए यह बहुत जरूरी है कि नियमित बीपी जाँच होती रहे।

बीपी का व्यवहार बदलता रहता है। जीवन भर डॉक्टर से चेक कराते रहना पड़ेगा। एक बार जो दवा या डोज फिक्स हो गया, यदि मैं उसी को खाता रहूं तो? नहीं, आप यह न करें क्योंकि आगे का हर डोज अगली जांच से तय होगा। जब डॉक्टर बुलाए तो तकलीफ हो, न हो जाकर अवश्य दिखाएं, वजन कम करें। सिगरेट (या किसी भी तरह का भी तंबाकू) का सेवन एकदम बंद कर दें। दारू या तो बंद कर दें या इतनी कम तो कर दें जो शराफत तथा बीपी का तकाजा होता है। कई बार हल्का बीपी तो इतना करने से ही कंट्रोल हो जाता है।

> *आज जो आप दवाएं ले रहे हैं वह जीवन बीमा की किस्त चुकाने जैसा है। चुकाने में कष्ट होता है, चुकाते हैं न मालूम है कि कभी मुसीबत से बचाएगी। जीवन बीमा में तो फिर भी वैसी मुसीबत शायद ही कभी आती हो परंतु हाई बीपी की दवाइयों की किस्त आपको निश्चित ही बहुत-सी मुसीबतों से बचाएगी।*

एक जरूरी बात और नियमित व्यायाम करें। मैं आपसे मुगदर घुमाने को नहीं कह रहा। नियमित चालीस मिनट घूम लिया करें बस। बैठे न रहें। ऐक्टिव रहें। क्या मैं नमक पूरा बंद कर दूं? कतई नहीं। नमक भी शरीर के लिए जरूरी है। हां, ज्यादा न लें। सलाद में न डालें। अचार-चटनी-पापड़ में नमक होता है। बस, कभी-कभी लें, क्या होम्योपैथी या आयुर्वेदक या गोय थैरेपी ट्राई करें? मैंने इनसे कभी किसी का ठीक होते तो देखा नहीं। पर कभी ट्राई करें भी तो किसी दूसरे डॉक्टर से बीपी चेक करवा लें। यदि आपका बीपी १४०/९० के नीचे रहता है तो जो ले रहे हैं, ले सकते हैं। मूल मुद्दा आपका हाई बीपी कंट्रोल में रखने का है। वह जिससे भी हो।

बीपी की दवाएं लगभग जीवन भर चलनी हैं, लेकिन उनका डोज, मात्रा आदि आवश्यकतानुसार बदल सकती है। इसीलिए नियमित बीपी जांच आवश्यक है।■

बी.मरिया कुमार

हुबली, धारवाड़ में जन्म। बचपन मैसूर में बीता। गुंटूर, विजयवाड़ा और हैदराबाद में अध्ययन। रसायन में स्नातक एवं अंतरराष्ट्रीय व्यापार में स्नातकोत्तर तथा पी.एच.डी. की उपाधि। औद्योगिक संबंध और कार्मिक प्रबंधन में पी.जी. डिप्लोमा। १९८५ में भारतीय पुलिस सेवा में शामिल। तेलुगु के प्रख्यात रचनाकार। विविध विषयों पर विस्तृत आलेख प्रकाशित। कविता एवं समसामयिक विज्ञान विषयों की डेढ़ दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। तेलुगु एवं अंग्रेजी कविताओं का रशियन, सिंधी एवं हिंदी में अनुवाद प्रकाशित। भारत भाषा भूषण, विद्यावाचस्पति, आचार्य सम्मान, अमेरिकी प्रशासन के ईओडी पदक तथा भारतीय पुलिस पदक से सम्मानित। ब्रिटिश पुलिस अकादमी, यू.के. तथा आतंकवाद विरोधी कार्यक्रम के तहत संयुक्त राज्य अमेरिका का दौरा। सम्प्रति - मध्यप्रदेश पुलिस अकादमी में संचालक।

सम्पर्क : b.mariakumar@gmail.com मोबाइल- 09425824258

अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद राजेश करमहे

स्वास्थ्य प्रबंधन

भाग : तीन

भोजन सामग्री से ज़्यादा महत्वपूर्ण पाक कला क्यों है?

भोजन सामग्री से ज़्यादा महत्व पाक कला का है। खाद्य सामग्री या व्यंजन को तेल में तलने पर यह वसायुक्त हो जाता है और इसे पचाने के लिए अधिक शारीरिक श्रम की ज़रूरत होती है। सबसे अच्छा पकाना नहीं पकाना है। भोजन को पकाने में आग की ज़रूरत होती है और पकाते समय उत्सर्जित ऊष्मा से भोजन के कई खनिज वाष्पीकृत होकर और नमक से मिलकर नष्ट हो जाते हैं, जबकि ऊपर से नमक लेना ज़रूरी नहीं है। प्राकृतिक रूप में प्राप्त भोजन खाने पर भोजन में आवश्यक पोषक तत्त्व बरकरार रहते हैं। बिना शारीरिक व्यायाम के तला भुना भोजन खाना तंदरुस्ती बरकरार रखने के लिए दवाओं पर निर्भरता बढ़ाता है।

शरीर में सभी पोषक तत्त्वों और खनिजों की ज़रूरत होती है। किसी भी शाक-सब्जी या फल में सभी तरह का पोषक तय तत्व या खनिज नहीं पाया जाता है। अतएव हमें सतत् रूप से सब्जी और फल बदल-बदल कर खाना चाहिए ताकि कोई खनिज तत्त्व न तो कम हो और न ही ज़्यादा। क्योंकि किसी भी तत्त्व की अधिकता या अभाव होने से बीमारी होती है।

हमें पाक कला अच्छी तरह सीखनी चाहिए। हमें पकाने के सही माध्यम का चयन करना चाहिए। किसी व्यंजन को पकाने के लिए हमारे पास समुचित ज्ञान होना चाहिए। शरीर की देखभाल में शारीरिक क्रियाकलापों का योगदान मात्र २० प्र.श. होता है, जबकि पोषण का ८० प्र.श.। अनेक जगहों पर सम्पन्नता के बावजूद बच्चे अल्प पोषित या कुपोषित रह जाते हैं क्योंकि उनके माता-पिता यह नहीं जानते कि क्या खिलाना चाहिए?

विद्वतजन कहते हैं, 'सर्वोत्तम व्यायाम खाने की मेज पर विवेक का इस्तेमाल करना है।'

हमें सभी अंगों का व्यायाम क्यों करना चाहिए?

एक चिकित्सक पूछता है, 'किसी को व्यायाम क्यों करना चाहिए?'

इसका उत्तर है, 'मान लीजिये कि एक कुत्ता आपका पीछा करता है। अगर आप नियमित रूप से दौड़ते हैं तो आप सुरक्षित भाग जायेंगे। ठीक उसी तरह हृदयाघात के संकट में आपका हृदय इसे अच्छी तरह सह लेगा, अगर आप नियमित व्यायाम करते रहे हों। एक अनुभवी हृदय अपने ऊपर आये संकट को अच्छी तरह भगाना जानता है।'

सुबह जल्दी उठना अच्छी आदत है, क्योंकि प्रातःकाल में सर्वाधिक कम प्रदूषण होता है और स्वच्छ हवा में साँस भरते हुए शारीरिक व्यायाम करना अच्छा होता है। टहलना और जॉगिंग करना अर्थात् धीमे दौड़ना इस मामले में अच्छा व्यायाम है कि इसके लिए कोई विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती है। अन्य प्रकार के व्यायामों में नेट, बॉल, कोर्ट, विपक्षी खिलाड़ी इत्यादि की ज़रूरत पड़ सकती है। ऐसा व्यायाम चुनिए, जिसमें हाथ सहित सभी अंगों की कसरत हो। टहलने में कमर के ऊपर के अंग स्थिर रहते हैं। आधुनिक शोध अन्य बातों के अलावे वजन के प्रशिक्षण पर जोर देते हैं। जब सभी अंग गति में होंगे तो कोई भी अंग अनुपयोगी नहीं हो पायेगा।

चिकित्सा शास्त्र के जनक हिप्पोक्रेट्स ने कहा था, 'जिन अंगों का इस्तेमाल होता है, वही विकसित होते हैं और उपयोग में नहीं आने वाले अंग नष्ट हो जाते हैं।'

खुले और हरे-भरे वातावरण में व्यायाम अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि वहाँ सूर्य की किरणों की उपलब्धता के कारण अत्यधिक विटामिन डी और पेड़ पौधों के प्रकाश संश्लेषण की क्रिया की वजह से ज़्यादा ऑक्सीजन मिलता है। जब यह सुविधा उपलब्ध नहीं हो तो ज़िम जाना अगला उपाय है, क्योंकि 'कुछ नहीं से कुछ होना' बेहतर है। कुछ ओशो के शिष्य जॉगिंग एवं नृत्य के समय कोई अन्तः वस्त्र पहनना पसंद नहीं करते हैं ताकि शरीर के सभी अंग गति की अवस्था में आ पाएं।

शरीर की वास्तविक सफाई का क्या अर्थ है?

शरीर की वास्तविक सफाई केवल ऊपरी तौर पर नहाना नहीं है। सही सफाई समयबद्ध शौच एवं स्वेद उत्सर्जन के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। शरीर में स्थित अशुद्धियों का, पाचन और अन्य शारीरिक क्रियाओं से मल के रूप में उत्सर्जित अशुद्धियों का समय-समय पर उत्सर्जन होते रहना चाहिए; अन्यथा ये अशुद्धियाँ बीमारी प्रदान करती हैं। इसके अलावे, व्यायाम और समुचित रेशायुक्त आहार लेना पेट साफ़ रखने के लिए अच्छी आदत है। रोज पेट साफ़ रखना, मल-मूत्र त्यागना, गैस बाहर करना और पसीना उत्सर्जित करना ही शरीर को सर्वाधिक साफ़ रखना है।

उचित मात्रा में कार्बोहाइड्रेड, प्रोटीन, खनिज, विटामिन, वसा, जल, रेशा और उचित व्यायाम शरीर को साफ़ रखने में मददगार होता है।

हमारा शरीर प्राकृतिक रूप से किडनी, आंत, फेफड़ा, लिम्फ और त्वचा से विष साफ़ करता है, किन्तु जब शरीर तंत्र दोषयुक्त हो जाता है तो अशुद्धियाँ छन नहीं पाती हैं और कोशिकाएं बुरी तरह प्रभावित होने लगती हैं। परिणामस्वरूप अत्यंत थकान, आलस, चिड़चिड़ापन, भोथरापन इत्यादि उत्पन्न होने लगता है। अतएव कुछ चिकित्सा विशेषज्ञ रक्त शोधन और विष निष्कासन अर्थात् डेटोक्सिफिकेशन की सलाह देते हैं। फिर विष हटाने का सबसे अच्छा तरीका है - सही व्यायाम और सही भोजन।

वायव्य आहार क्या है?

तीन तरह के आहार होते हैं - ठोस आहार, द्रव आहार और वायव्य या गैसीय आहार। ठोस आहार में ठोस अवस्था वाले खाद्य पदार्थ यथा, रोटी, चावल, दाल इत्यादि शामिल हैं। जल द्रव आहार है। लोग गैसीय आहार की चिन्ता नहीं करते हैं, जो कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऑक्सीजन है। यह प्राणदायक गैस शारीरिक क्रिया कलापों से ही शरीर को प्राप्त होता है।

चिकित्सा विज्ञान कहता है कि केवल ऑक्सीजन शरीर से बाहर हो जाता है, तो मृत्यु घटित हो जाती है। अतएव सभी मृत्यु स्वभाव से भौतिक है। भौतिक क्रियाकलाप धड़कन को बढ़ाता है अतएव ज़्यादा साँस खींच पाते हैं। वास्तव में मानव जीवन परिवेश की वायु पर निर्भर करता है, क्योंकि हम हर समय ऑक्सीजन साँसों में भरते हैं और कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ते हैं। हम हवा के बिना जीवित नहीं रह सकते हैं, इसके बावजूद शरीर पोषक तत्त्वों और जल की तरह ऑक्सीजन का संग्रह नहीं करता है। इसी कारण कोई बिना ऑक्सीजन के मात्र कुछ ही पल जीवित रह सकता है और चूँकि हम इसी तरह बने हैं, अतएव ताजी हवा हमारे लिए जीवनोपयोगी है।

> *"तीन तरह के आहार होते हैं - ठोस आहार, द्रव आहार और वायव्य या गैसीय आहार। ठोस आहार में ठोस अवस्था वाले खाद्य पदार्थ यथा, रोटी, चावल, दाल इत्यादि शामिल हैं। जल द्रव आहार है। लोग गैसीय आहार की चिन्ता नहीं करते हैं, जो कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऑक्सीजन है।"*

इससे सम्बंधित एक सदियों पुरानी कहानी इस प्रकार है : प्राचीन रोम में एक गर्म वेशभूषा में सुसज्जित युवा ने एकबार एक अधनंगे वस्त्र धारण किये हुए न्यूबिअन जाति के वृद्ध से पूछा, 'क्या आप इस जाड़े में बिना शरीर ढंके काँपते नहीं हैं?' वृद्ध ने उत्तर के बदले एक प्रश्न किया, 'क्या तुम नहीं काँपते हो? तुम्हारा भी चेहरा ढका नहीं है।' 'लेकिन यह तो मेरा चेहरा है और इसकी आदत हो गयी है,' युवक ने कहा। 'तब मान लो कि मेरा धड़ भी मेरा चेहरा है।' न्यूबिअन वृद्ध ने उत्तर दिया।

यह तो थी कहानी की बात। एक आधिकारिक चिकित्सक का कथन है कि ताजी हवा में खुले बदन रहना अत्यधिक ठण्ड सहने की शक्ति प्रदान करता है। अतएव आपको अपने ईर्द-गिर्द की हवा से लाभ लेना सीखना चाहिये। साथ ही साथ उचित रूप से साँस लेना भी सीखें।

रसोईये और वाहन चालक के चयन में क्यों सतर्क रहना चाहिए?

शोध दर्शाते हैं कि कुछ देशों में युद्ध घायलों की अपेक्षा सड़क हादसों के मामले ज़्यादा होते हैं। उन देशों में वाहन चालन एक खतरनाक काम होता है। यहूदी विद्वान जोनाथन सैक्स कहते हैं, 'कुछ साल पहले सबसे ज़्यादा तनावपूर्ण व्यवसाय को जानने के लिए एक अध्ययन हुआ। इसका निष्कर्ष न तो किसी बड़े व्यवसायिक घराने का प्रमुख होना, न ही फुटबॉल मैनेजर होना और न ही प्रधानमंत्री होना हुआ, बल्कि यह बस ड्राईवर होना हुआ।'

दूसरी तरफ खराब जीवनशैली के कारण होनेवाली बीमारियों से मरनेवालों की संख्या भी बढ़ रही है। खराब जीवन शैली के निर्धारकों में से एक खराब भोजन भी है। अतएव जीवन में दो लोग हमारी सुरक्षा को निश्चित करते हैं। वे रसोईये और ड्राईवर हैं। अगर रसोईया खराब खाना बनाता है, तो वह खानेवालों को स्वास्थ्य समस्या देता है। टीवी फ़ूड शो के एंकर अन्थोनी बोर्डेन की टिप्पणी है, 'खराब खाना गर्वहीन और बिना लगाव वाले रसोईये के द्वारा बनाया जाता है। खराब डिश अन्यमनस्क शेफ के द्वारा तैयार किया जाता है, जो कि सबको खुश करना चाहता है और सबकी नज़रों में सबकुछ जानकार बनना चाहता है। खराब खाना नकली खाना है... वैसा खाना जो लोगों में डर पैदा करता है और जीवन विषयक निर्णय लेने की क्षमता में विश्वास की कमी करता है।' यही स्थिति ड्राईवर की भी है। एक उदंड वाहन चालक न केवल अपने, बल्कि औरों के भी प्राण की बाज़ी लगाता है। अतएव हमें इन दोनों के चयन में सावधान रहना चाहिए। ■

अध्याय-२ : स्वास्थ्य प्रबंधन समाप्त

"To be or not to be happy" पुस्तक के अंश।

(क्रमशः)

गर्भनाल पत्रिका का आगामी अंक

प्रवासी भारतीय दिवस विशेषांक

अंक के प्रमुख आकर्षण

प्रवासी भारतीय दिवस का उत्सव

प्रवासियों पधारो अपने देश

प्रवासी भारतीयों का आर्थिक साम्राज्य

खाड़ी देशों के प्रवासियों की तस्वीर

आप्रवासी भारतवंशियों की दुनिया और दुनिया में वे

भारतवंशी बहुल देशों में भारत

यूरोप में भारतीय, भारतवंशी और भारत

लॉस एंजेलिस में बसा है हिंदुस्तान

मेक इन इंडिया, स्किल इंडिया, क्लीन इंडिया,
डिजिटल इंडिया और क्लीन गंगा

जैसे मुद्दों पर विशेषज्ञों के आलेख

इस अंक की मुद्रित प्रति
प्राप्त करने के लिये
सम्पर्क करें –
garbhanal@ymail.com

सुधा दीक्षित

मथुरा में जन्म। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। कविता एवं सृजनात्मक लेखन में विशेष रुचि। सम्प्रति - बंगलुरू में रहती हैं।

सम्पर्क : sudha_dixit@yahoo.co.in

रम्य-रचना

लो जी चमक गए पटवीजने

ताऊ नरेंदर हमने तो पहले ही कहा था कि डूबते सूरज का रंग सिंदूरी होता है, इस रंग यानि भगवा से बचकर रहना। सुना नहीं तुमने और देखो चला गया ना, बिहार में, तुम्हारा सूरज अस्ताचल को। ये और बात है कि –

जुगनू की क्या मजाल यही सूरज के सामने
अब रात हो गयी है तो ये भी चमक गए

जी हाँ बिहार में अँधेरा गहरा गया है। लोगों को नयी रौशनी की ज़रूरत ही नहीं है; वे तो टिमटिमाते जुगनुओं से ही काम चलाने के आदी हैं। गुफाओं में रहने वालों को सूरज के प्रकाश से क्या सबब! जो बाहरी हो गए (यानि बिहार से बाहर आ गए) संवर गए, बाकि कूप-मंडूक, कूप-मंडूक ही रहे और रहेंगे। तुच्छ जातिवाद से न उबरे हैं न उबरेंगे। वो गाना है ना 'मैं तो चलूँ पच्छिम, पूरब चले दुनिया।' कृपया दिशा पर न ध्यान दें, मतलब उलटे चलने से है। दुनिया बाइसवीं सदी की ओर अग्रसर हो रही है, बिहार अट्ठारहवीं सदी की ओर चलायमान है। लालू का गोबर-ज्ञान बहुत उपजाऊ है (चारा हज़म किया है ना) तो भैया चरैवेती चरैवेती।

चुनाव परिणाम आते ही जंगल में मंगल हो गया। सारे का सारे जानवर, खास कर बंदर-भालू, लालू की ताल पर ता ता थैया नाच रहे हैं। यह तो साबित हो गया कि सबसे बड़ा मदारी लालू ही है, देखना कैसे वो नितीश को 'नाच मेरी जान कि वोट मिलेगा, अब किसी को तुझमें नहीं खोट मिलेगा' गाकर ठुमुक ठुमुक नचाते हैं।

महादलित हो कर भी मांझी की नैया डूब गयी। खैर निठल्लों के तो मज़े आ गए। अब सब दलित और तथाकथित दलित, आरक्षण की बैसाखी पर चलेंगे। अपने पांवों पर खड़े होने की तो ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। और तो और ओलम्पिक में भी बैसाखी रेस का आरक्षण करने की मांग आ जायेगी।

ग़लती नरेन्दर ताऊ की भी है। सन् २०१४ की अप्रतिम विजय के बाद ही हमने कहा था की ये काँटों का ताज है, ज़रा संभाल के भैये, ज़रा भी सर को ढीला छोड़ा तो कांटे चुभ जायेंगे। देखो ना दिल्ली चुनाव के वक़्त भी किरण बेदी जैसी अनुभवहीन (राजनीति में) महिला को मुख्यमंत्री का चेहरा बना दिया, तो केजरीवाल जैसा बड़ा काँटा चुभ गया, अभी तक चुभ रहा है। लेकिन बिहार में फिर वही ग़लती! चाणक्य अमित शाह को अब अवकाश प्राप्त कर लेना चाहिए। ताऊ जी जात पात की दलदल में फंसे, पिछड़े हुए बिहारी गढ़ में

कोई लोकल चेहरा दिखाना चाहिए था ना। यह बात तो हम जैसे राजनीतिक अनाड़ी भी जानते हैं, फिर महामहिम अमित जी को क्या हुआ था? अब भुगतो।

भुगतने वाला मुद्दा एक और भी है। वो यह कि 'अच्छे दिन' और विकास का वादा अभी तक वफ़ा नहीं हुआ; दूसरी ओर नितीश कुमार ने बयानबाज़ी कम की तथा बिहार के विकास पर अधिक ध्यान दिया। लफ़्फ़ाज़ी न करके नितीश ने जनता की नब्ज़ पर हाथ रखा। सबसे पहले सड़कें ठीक करवाईं और फिर गांवों तक बिजली पंहुचाई। हमारी एक मुख- पुस्तक-मित्र की बात मानें तो रेल-यात्रा भी सुखद कर दी। ताऊ जी सपने दिखाना एक बात है और सपनों की ताबीर बनाना दूसरी। भूखे को रोटी की तलब होती है, रोटी की तस्वीर की नहीं। अरे भैया आशिक़ तक कह देते हैं 'तस्वीर तेरी दिल मेरा बहला न सकेगी' क्योंकि न तो वो बात करेगी, ना ही कुछ और, बस दीवार पर लगी रहेगी। हुज़ूरेवाला अगर इश्क़ में दीवाने लोग इतनी हक़ीक़त बयान कर सकते हैं तो मामूली जनता की क्या बात है। उसका तो दार-ओ-मदार ही सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान है। वैसे शेखचिल्ली की कहानी तो सुनी होगी, अम्मा या अब्बा से? उसे गुनो भी। एक बात और, ये हिंदुत्व के चक्कर में गाय को चुनाव का मुद्दा बनाना भी भयंकर भूल थी। गाय दूध देती है वोट नहीं। मार दी ना लात गौ माता ने! हो गया सब गुड गोबर!

जहाँ तक भुगतने का सवाल है, भुगतेंगे तो बिहारी भी। बस तेल देखो और तेल की धार देखो। नितीश ने चुनाव को

> *बिहार वालों, अब लालू का अनपढ़, गंवार, juvenile सपूत आप पर राज करेगा? डूब मरो। आखिर लालू ने अपना उल्लू कर ही लिया सीधा पूरे बिहार को उल्लू बना कर।*

मद्दे-नज़र रखकर कुछ विकास ज़रूर किया है लेकिन कोई इंडस्ट्री नहीं लगायी। युवाओं को नौकरी का कोई बंद-ओ-बस्त नहीं किया। आरक्षण की बैसाखी पकड़कर ये नौजवान कितनी दूर जा पाएंगे? दूरदर्शिता की भारी कमी है साहेब।

आज हो गया नितीश जी का राजतिलक। वाह क्या अद्भुत नज़ारा था। बिल्ली चूहे से गले मिल रही थी, सियार लोमड़ी से, गधा बंदर से यानि नामाकूल कलंदर से, वगैहरा वगैहरा। हमें दिलीप कुमार की एक फिल्म दीदार का गाना याद आ गया - 'देख लिया मैंने क़िस्मत का तमाशा देख लिया'। भाई- चारे का विचित्र किन्तु सत्य तथा अभूतपूर्व प्रदर्शन था। और कोई चारा तो अब बचा नहीं, सारा का सारा लालू पहले ही चर चुके हैं। हमने कहा था न कि लालू को देश या देश के युवाओं से कुछ लेना देना नहीं है। लालू सिर्फ मदारी हैं अव्वल दर्जे के। देखो बना दिया ना नितीश को जमूरा और अपने नौवीं फेल, अनुभवहीन, बिंदास, काले चश्मे और जींस से लैस नौनिहाल को डिप्टी सीएम बना दिया। बिहार वालों, अब लालू का अनपढ़, गंवार, juvenile सपूत आप पर राज करेगा? डूब मरो। आखिर लालू ने अपना उल्लू कर ही लिया सीधा पूरे बिहार को उल्लू बना कर।

मुक़ददर के सिकंदर : अजब तेरी दुनिया गजब तेरा रुख; आँख के अंधे, नाम नयनसुख। क्या क़िस्मत लेकर पैदा हुए है मोहतरम मनी शंकर अय्यर। दो हज़ार बारह में उन्होंने डंके की चोट पर बयान दिया था कि 'यह चाय वाला कभी हिंदुस्तान का प्रधानमंत्री नहीं बन सकता'। मुँह की खाई मगर राजनीति में बने रहे। यह भी कहा था कि 'अगर मोदी जीत गए तो मैं भारत छोड़ दूंगा।' भाई लोगों मनी जी ने थूक कर चाट लिया लेकिन अड़े रहे भारत में। ऐसा लगता है कि शरीर तो भारत में ही है परन्तु आत्मा अवश्य भारत से पलायन कर गयी। वरना क्यों पाकिस्तान में जाकर उनसे यह कहते कि मोदी को हटाओ हमें लाओ, तब बातचीत होगी। क्या बात है, अपने छोटेपन का सबूत देने वो दुश्मनों से मदद मागेंगे। अपनी नफरत के तहद आतंकवादियों से गठजोड़ कर लेंगे! एक विवादित बयान भाजपा ने दिया था कि अगर बिहार में भाजपा हार गयी तो पाकिस्तान में पटाखे फूटेंगे। हमें यह नहीं पता था कि खुद मणिशंकर पटाखे फोड़ने पाकिस्तान जायेंगे। अब उन्हें क्या कहें -आतंकवादी या मुक़द्दर का सिकंदर?

आतंकवाद से याद आया कि हमारे गुलिस्ताँ की एक शाख पर एक और उल्लू बैठा है जो कहता है कि फ़्रांस में हुआ हमला एक क्रिया की प्रतिक्रिया है, यानि आतंकियों ने जो किया सही किया। बेचारा न्यूटन, अपनी कब्र में करवटें बदल रहा होगा। हिंदुस्तान में रह कर आतंकियों की तरफदारी – सिर्फ इसलिए कि वो मुसलमान हैं? बड़ी छोटी सोच है। एक बात कहें – अगर आज़म ख़ान से पूछा जाये कि 'भाईजान अक़्ल बड़ी या भैंस' क्या कहेंगे – यही ना कि 'आँख फाड़कर देखो इतनी बड़ी भैंस दिखाई नहीं देती क्या?' देती है भाई दिखाई देती है; आपकी भैंसों के आगे (पुलिस वाले भी जानते हैं) आपकी अक़्ल तो पूरी तरह अंतर्ध्यान हो गयी है। इसी बात पर हाज़िर है एक शेर -

रखेगा खाक रब्त वो इस कायनात से
जो ज़र्रा अपनी ज़ात में जाकर सिमट गया

एक और मुक़द्दर के सिकंदर हैं - अपने बालक राहुल भुट्टो, अरे भुट्टो नहीं वह तो बरतानिया के नागरिक हैं। पहले तो कांग्रेस ने मानने से ही इंकार कर दिया। लेकिन सबूत के कागज़ दिखने पर उत्तर दिया कि वह टाइप की गलती है। अंतर्देशीय स्तर पर टाइप की गलती, इतनी हास्यास्पद बात केवल यूपीए ही कर सकती है। राहुल साहब ने यह भी कहा कि मैं गरीबों के लिए लड़ूंगा। भैय्ये यह जुमला 'गरीबी हटाओ', जिसने इंदिरा गांधी को जिताया था, हम पिछले साठ सालों से सुन रहे हैं। गरीब हट गए (किसान) गरीबी वहीं की वहीं है। क्यों काठ की हांडी बार-बार चूल्हे पे रखते हो?

कर्नाटका के शहंशाह सिद्दारमैया मुफ्त में बड़े और सुसंस्कृत क्लबों में प्रवेश करने के लिए कानून तक बनाने की कोशिश कर चुके हैं। सड़क पर ट्रैफिक जाम करके शान से फरमाते हैं कि लोगों को यह बर्दाश करना पड़ेगा (वज़ीर-ए-आला हैं आखिर)। लेकिन सड़कों के विकास और कचरे की सफाई का कोई समाधान उनके पास नहीं है; क्योंकि उन्हें फर्क ही नहीं पड़ता। प्रदेश को कांग्रेस - मुक्त होना ही चाहिए। एक बात और कलबुर्गी की हत्या कर्नाटक में हुई, अभी तक कुछ नहीं हुआ, दोष डाल दिया गया बस भाजपा पर। कहने को बहुत कुछ है मगर हम बस इतना ही कहेंगे कि

ज़माना जानता है किसका दामन चाक कितना है
तेरे बदनाम करने से कोई बदनाम क्या होगा

चलते चलते : नेताओं की जमात समझती है कि जनता की स्मरण शक्ति बेहद कमज़ोर होती है। लालू जैसों की जीत ने यह ग़लतफ़हमी कुछ और बढ़ा दी है। हमने नरेंदर ताऊ से भी कहा था और अब महागठबंधन वालों से भी कहते हैं -

मुगालते में ना रहिएगा कमनिगाही के
हमारा चश्मा नज़र का नहीं है धूप का है। ■

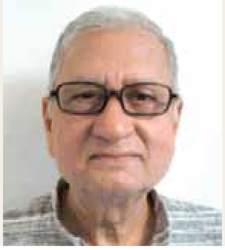

रमेश जोशी

१८ अगस्त १९४२ को चिड़ावा, राजस्थान में जन्म। राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. और रीजनल कालेज ऑफ एज्यूकेशन भोपाल से बी.एड., पोरबंदर से पोर्ट ब्लेयर तक घुमक्कड़ी, प्राथमिक शिक्षण से प्राध्यापकी करते हुए केन्द्रीय विद्यालय जयपुर से सेवानिवृत्त। संप्रति : अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक। मूलतः व्यंग्यकार, गद्य-पद्य की ६ पुस्तकें प्रकाशित। ब्लॉग - jhoothasach.blogspot.com

संपर्क : 10046, Parkland Drive Twinsgburg, OH-44087 USA Email : joshikavirai@gmail.com

जन्नत की हकीकत

इस असहिष्णु समय में

इस समय विश्व के सभी श्रेष्ठ मस्तिष्क और श्रेष्ठ राष्ट्र संसार के कल्याण के लिए हलकान हैं। विश्व-सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ, विभिन्न देशों के तरह-तरह के एनजीओ और सभी देशों की सरकारों द्वारा पशु-पक्षियों, पर्यावरण से लेकर समस्त विश्व की भूख, गरीबी, कुछ महामारियों से मुक्ति करने, पेयजल, स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा, मानवीय गरिमा, बच्चों-महिलाओं के कल्याण तथा गरिमा के लिए कार्यक्रम और अभियान चलाए जा रहे हैं। विश्व शांति के लिए बड़ी भाग-दौड़ हो रही है। धर्म, संस्कृतियों, भाषाओं, दुर्लभ पशु-पक्षियों, वनस्पतियों और विश्व धरोहरों को बचाने और उनके संरक्षण का हल्ला है। लगता है बस, यही वह सतयुग है जिसका कलयुग से पीड़ित इस धरती को इंतज़ार था।

और इसके साथ-साथ ही विश्व के सभी संसाधनों पर कब्ज़ा करने, उनका अंतिम बूँद तक दोहन करने, मुनाफा कमाने के लिए किसी को भी कुछ भी बेचने के लिए घेरने, किसी को भी बिना कुछ सोचे-समझे घातक हथियार बेचने, अमानक दवाएँ और उनके अनधिकृत परीक्षण, एक-दूसरे के यहाँ षड्यंत्र करवाने, दंगे भड़काने, सरकारें गिराने-बनवाने, नशीली दवाओं के व्यापार में सरकारों के शामिल होने, माफिया से सांठ-गाँठ, अभिव्यक्ति के नाम पर किसी भी देश, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, नस्ल आदि के अपमान को बढ़ावा देने आदि जैसे जाने कितने कुकर्म भी चलते रहे हैं। आज जिस तरह धार्मिक गतिविधियाँ बढ़ रही हैं उसी अनुपात में अधर्म का प्रचार भी हो रहा है- मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। कहीं यह दवा के नाम पर मर्ज़ बढ़ाकर फिर कोई नई दवा का धंधा करने का षड्तंत्र तो नहीं है?

आज विश्व में असुरक्षा, भय और असहिष्णुता का जो वातावरण बना हुआ है उसे मात्र धर्म की पृष्ठभूमि से जोड़ कर देखा जा रहा है लेकिन यह समस्या का अत्यंत सरलीकरण है। इसके पीछे स्वार्थ, अहंकार, लालच, घृणा का एक लम्बा इतिहास रहा है। धर्म और नस्ल की आड़ में समस्त विश्व में युद्धों और उपनिवेशवाद का अमानवीय खेल खेला जाता रहा है। यदि यह मात्र संसाधनों का ही मामला होता तो दुनिया से उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद बात सुलझ जाती। वैसे राजा या सत्ता या शासक पार्टी बदलने से सामान्य जनता को कोई फर्क नहीं पड़ता यदि उसके सहज जीवन और विश्वासों और सुख-दुखों से छेड़छाड़ न की जाए। उसे तो कर देना है और इस या उस माननीय को सम्मान देना है। लेकिन इसके पीछे विजेताओं के अहंकार और श्रेष्ठता के दंभ में विजित देशों की नस्लों और वहाँ के निवासियों, उनके धर्म, आत्मसम्मान, आस्था केन्द्रों, भाषा, संस्कृति और सभ्यता को अपमानित किए जाने की जातीय स्मृतियाँ भी हैं।

जब ऐसा होता है तो विजित समाज अपने बचाव और सुरक्षा के लिए कछुए की तरह कट्टरता और अलगाव के एक खोल में घुस जाता है। बस, इसी खोल में वैचारिक अँधेरा, अन्धानुकरण, घृणा, भ्रम, शंकाएं पनपते हैं जिनका लाभ विजेता और विजित समाज के स्वार्थी नायक उठाते हैं। दिन पर दिन यह खाई और बढ़ती जाती है क्योंकि सबके अहंकार और स्वार्थ विगत, आगत, अनागत को छोड़ने के लिए विकुंठ नहीं हो पाते।

कुछ दिन पहले फ़्रांस में आतंकवादी घटना हुई जिसे किसी भी तरह सही नहीं ठहराया जा सकता। इसका विरोध

सभी धर्मों के अनुयायियों ने अपने-अपने अहंकार में बहुत से अनुचित कार्य किए हैं। लेकिन क्या अब उन्हें आधार बनाकर लड़ा-मारा जाए या उन भूलों को सुधारकर इस दुनिया-जहान को रहने लायक और सुख-शांति पूर्ण बनाया जाए?

और प्रतिरोध होना चाहिए क्योंकि आग किसी धर्म, जाति, नस्ल, देश की सीमा नहीं मानती। लेकिन इस आग में अधिकतर वे जलते हैं जो न तो यह आग लगवाते है, न ही लगाते हैं। वे किसी से घृणा नहीं करते, वे तो सबके साथ प्रेम से रहना चाहते हैं।

आज संचार के साधनों के कारण एक छोटी सी भी घटना की खबर तत्काल सही या तोड़मरोड़ कर दुनिया में पहुँच जाती है और उसकी अच्छी-बुरी क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगती है। इसलिए विभिन्न समाजों, सरकारों, व्यक्तियों को अपने व्यवहार, कर्म और वाणी में सतर्क, सार्थक और सावधान और संतुलित रहना चाहिए लेकिन ऐसा कम देखने को मिलता है। अपने स्वार्थ, यश की चाहना और राजनीतिक लाभ के लिए या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर कुछ भी बोल, कर या लिख देना उचित नहीं है।

पिछले कुछ समय के एक-दो उदाहरण देखें जो न तो उचित थे, न आवश्यक, बल्कि किसी न किसी रूप में समाज में शंका, भय, वैमनष्य और भ्रम फ़ैलाने वाले थे।

अमरीका के राज्य डालास के गार्लैंड में विगत दिनों एक कार्टून प्रतियोगिता के दौरान दो बंदूकधारियों ने कार्यक्रम स्थल के निजी सुरक्षा गार्ड पर हमला कर दिया। पुलिस से मुठभेड़ में दोनों बंदूकधारी मारे गए। यहाँ पैगंबर मोहम्मद पर कार्टून बनाने की विवादित प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। गौरतलब है कि इस्लाम की आलोचना करने वाले न्यूयॉर्क स्थित रूढिवादी संगठन ने इस प्रतियोगिता का आयोजन किया था। पैगंबर मोहम्मद का 'बेस्ट कार्टून' बनाने वाले के लिए १० हजार अमेरिकी डॉलर की पुरस्कार राशि दिए जाने की घोषणा भी की गई थी।

यह प्रतियोगिता कला, संस्कृति और किस मानवीय गुण के विकास के लिए आवश्यक थी? क्या इससे बचा नहीं जा सकता था? क्या ऐसी प्रतियोगिताओं से बचा नहीं जाना चाहिए?

चार्ली हैब्दो का कार्टून कौन-सी कलात्मक अभिव्यक्ति है, कौन-सी मानवीय संवेदना है? इससे किस मानवीय गरिमा का सम्मान या समस्या का समाधान होता है?

चार्ली हेब्दो ने लिखा- ईसाई पानी पर चलते हैं, मुस्लिम बच्चे डूब जाते हैं। (शरणार्थी और पलायन की समस्या से जूझ रहे सीरिया के तीन साल के एलन का शव पिछले दिनों तुर्की में समुद्र किनारे पाया गया था।)

अमरीका के फ्लोरिडा के एक चर्च के एक पेस्टर (धार्मिक अधिकारी) टेरी जोन्स ने ९/११ की घटना की बरसी मनाने के लिए २९९८ कुरान की प्रतियाँ केरोसिन डाल कर जलाने के लिए ले जाते हुए गिरफ्तार कर लिया गया। क्या किसी धार्मिक स्थल से संबंधित व्यक्ति से ऐसी आशा की जा सकती है कि वह ऐसा सोचे या करे? ऐसी सोच से किस धर्म का हित हो सकता है? और ऐसे व्यक्ति अपने धर्म के लोगों को कौन-सी राह दिखाएँगे?

अपने यहाँ भी पिछले कुछ दिनों में किसी धर्म विशेष को लेकर अतिउत्साही लोगों द्वारा कुछ ऐसे बयान दिए गए जो सामाजिक सौहार्द्र के लिए घातक थे। यदि इतिहास पढ़ा जाए तो सभी समयों में, सभी धर्मों के अनुयायियों ने अपने-अपने अहंकार में बहुत से अनुचित कार्य किए हैं। लेकिन क्या अब उन्हें आधार बनाकर लड़ा-मारा जाए या उन भूलों को सुधारकर इस दुनिया-जहान को रहने लायक और सुख-शांति पूर्ण बनाया जाए?

यह समय सबके लिए मन, कर्म, वचन से समझदारी अपनाते हुए सहयोग, प्रेम, सहिष्णुता से रहने का है। दुःख तो वैसे भी दुनिया में बहुत हैं, उन्हें और क्यों बढ़ाया जाए? लेकिन यह सब एकतरफा नहीं हो सकता। ताली एक हाथ से नहीं बजती लेकिन आग लगाने के लिए तो एक हाथ ही काफी है।

अहंकार बीच में आ जाता है। सवाल यह है कि पहल कौन करे? अपनी चार पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहता हूँ-

ख़ुद से ज़रा निकल कर देखो
साथ हमारे चल कर देखो
वे रूठे हैं मन जाएंगे
तुम ही ज़रा पहल कर देखो। ■

अपर्णा राय

मध्य प्रदेश में जन्म। बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल से स्नातक। देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर से बिजनेस इकोनॉमिक्स में स्नातकोत्तर। हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर से मास कम्युनिकेशन में उपाधि। हिंदुस्तान टाइम्स, इनाडु टेलीविजन तथा आई क्वेस्ट में कार्यरत रहीं। समाजसेवी संस्था SAITEW की सदस्य। सर्जनात्मक लेखन में रुचि। सम्प्रति -शिकागो में निवास।

सम्पर्क- aparna5.rai@gmail.com

शिकागो की डायरी

दीपों के पर्व पर घर की याद

घर से दूर रहने पर उसकी और अधिक याद आती है। खासकर के त्यौहारों के समय आपको घरवालों की कमी बहुत खलती है। उसमें भी अगर दीवाली जैसा त्यौहार हो तो बात कुछ और ही हो जाती है। विदेशों में रहने वाले भारतीय त्यौहारों को घर से दूर रहकर बस जैसे त्यौहार मनाने की औपचारिकता कर रहे हो, ऐसा लगता है, पर ये सभी लोग पूरी कोशिश करते है कि अपने सारे त्यौहार पूरे विधि-विधान से मना सकें।

शिकागो की जिस आवासीय सोसायटी में हम रहते हैं वहाँ भारत के विभिन्न प्रदेशों से आये हुए लोग मिलकर रहते हैं। त्यौहारों पर यह सांस्कृतिक विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ अलग-अलग पेशों से जुड़े हुए हैं। इनमें से कोई प्राइवेट संस्था में है तो कोई अपना स्वयं का बिज़नेस कर रहा है। इस बार सभी ने दीवाली पूरे उत्साह के साथ मनाकर माता -पिता और रिश्तेदारों से दूर होने की कमी को काफी हद तक पूरा किया। हमारी सोसाइटी के संचालक जो खुद एक अमेरिकन हैं, लेकिन यहां रहने वाले भारतीयों की भावनाओं का सम्मान करते हुए दीवाली पर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करते हैं, जिसमें भारतीय गानों, नृत्य, खान-पान सभी कुछ शामिल रहता है। इस बार बच्चों ने नाटक, रामलीला की प्रस्तुतियाँ दीं। बड़ों ने कविता पढ़ी तो कुछ ने श्लोक वाचन किया। इस अवसर पर छोटे-छोटे बच्चे कुर्ते-पजामे और लहंगा चुन्नी में बहुत ही सुन्दर लग रहे थे। इस तरह के परिधान यहां के भारतीय बच्चे बहुत ही कम और खास अवसर पर ही पहन पाते हैं। इसलिए बच्चों के अभिभावकों के चेहरे खिले हुए थे और उन्हें लग रहा था कि मानो वे अपने ही देश में दीवाली का त्यौहार मना रहे हैं।

> हमारी सोसाइटी के संचालक जो खुद एक अमेरिकन हैं, लेकिन यहां रहने वाले भारतीयों की भावनाओं का सम्मान करते हुए दीवाली पर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करते हैं, जिसमें भारतीय गानों, नृत्य, खान-पान सभी कुछ शामिल रहता है।

यहाँ रहने वाले अमेरिकन, स्पेनिश, रशियन और चायनीज़ भी इसमें बहुत उल्लास से शामिल हुए और अंत तक आयोजन के मजे लेते रहे। विदेशियों की भारतीयों के त्यौहार में उपस्थिति से माहौल सौहार्द्रपूर्ण हो गया था। यहाँ ऐसा भी देखने को मिला कि अलग-अलग देशों के लोग अपने-अपने कल्चर की बातें कर रहे थे।

हमारी सोसायटी में रहने वाली साठ फीसदी महिलाएँ कामकाजी हैं। कुछ महिलाएँ ऐसी भी हैं जिनके पास ऊँची डिग्रियाँ हैं, लेकिन यहाँ की सरकार की अनुमति न होने की वजह से वे काम नहीं कर पा रही हैं। इस बात का उन्हें बेहद अफसोस बना रहता है। इस अफ़सोस को दूर करने के लिए ये कुछ समाजसेवी कामों में भागीदारी करके संतोष करती हैं।

हर बार की तरह दीवाली पर पारम्परिक भारतीय पकवान तैयार करने की मानो होड़-सी लग जाती है। हाल ही में बंगलुरु से अमेरिका नौकरी करने आई हमारी एक मित्र ने गुजिया, नमकीन पारे, बूंदी लड्डू, चकली, गुलाब जामुन जैसे व्यंजन बनाकर सबकी खूब प्रशंसा बटोरी।

अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के बच्चे दीवाली की परम्परा से जुड़ी बातें अपने अभिभावकों से प्रायः पूछते दिख जाते हैं। यहां के स्कूलों में भी बच्चों को शिक्षकों द्वारा परम्पराओं की अनेक बातें विचार-विमर्श के द्वारा सिखाई और बताई जाती हैं। मेरे नौ साल के बेटे ने स्कूल से लौटकर बताया कि आज उसके स्कूल में जो वीडियो दिखाया गया, उसमें दीवाली क्यों और कैसे मानते हैं, इसके बारे में जानकारी थी।

भारत की तरह यहाँ भी फाटके, दिये, रंग-बिरंगी रौशनी, पूजा का सामान और मेहमानों के उपहारों की खरीददारी हफ्तों पहले से शुरू हो जाती है।

शिकागो में एक बहुत बड़े इलाके में इंडियन मार्किट बनाया गया है जो 'डिवॉन स्ट्रीट' के नाम से प्रसिद्ध है। सड़क के दोनों तरफ बिल्कुल भारत की तरह दुकानें सजायी जाती हैं, जिनमें चाय की छोटी दुकान से लेकर, ज्वेलरी के बड़े शोरूम तक शामिल रहते हैं। यहाँ हरेक भारतीय सामान जिसमें पूजा की सामग्री, भारतीय परिधान, मिठाइयाँ आदि सभी कुछ मौजूद रहता है। दीवाली पर इस बाजार को इतने आकर्षक ढंग से सजाया जाता है कि यहां दूर-दूर से लोग इसे देखने और खरीदारी करने आते हैं।

वैसे तो साल भर इस तरह के बाजार से लोग खरीदारी करते हैं पर सबसे ज्यादा दीवाली के समय इस बाजार में रौनक देखने को मिलती है। ऐसा लगता है भारत के ही किसी शहर के बाजार यहाँ उपस्थिति हो गया हो। इस बाजार में खरीदारी करते हुए एक आम भारतीय लगभग ४०० से ५०० डॉलर खर्च करते हुए त्यौहार पर खुश रहने और खुश दिखने की भरपूर कोशिश करता है। इस सबके बाद भी अपनों से दूर रहने का मलाल प्रवासियों के चेहरों पर कभी न कभी झलक ही जाता है। इस कमी को पूरा करने के लिये अक्सर ही प्रवासी भारत में रहने वाले अपने परिजनों से फोन पर बात करके पूरा करते हैं और खुश होते हैं। ■

सन्ध्या सिंह

हिन्दी साहित्य से एम.ए. और बी.एड.। सिंगापुर में हिन्दी सोसाइटी के मार्फत स्वयंसेवक के रूप में उच्च माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ाया। विगत १४ वर्षों से सिंगापुर में हिन्दी प्रचार-प्रसार में सक्रिय भूमिका। सिंगापुर की एन.पी.एस. अन्तर्राष्ट्रीय पाठशाला में हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं एन.यू.एस. में हिन्दी व्याख्याता के तौर पर काम किया। विभिन्न पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन।

सम्पर्क- sandhyasingh077@gmail.com

आँखों का खेल

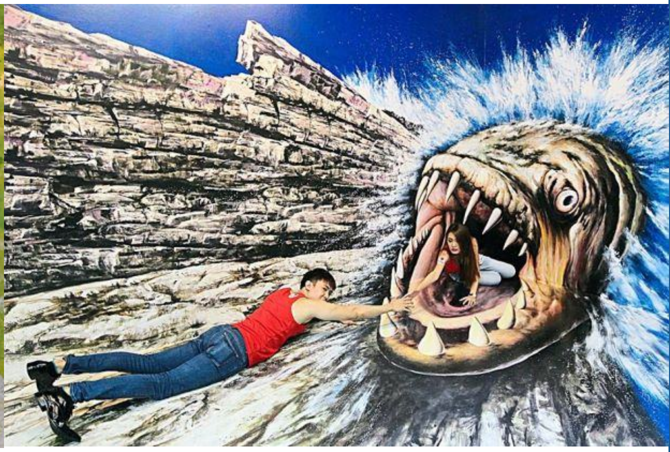

दो हजार दस में कोरिया ने संग्रहालयों की श्रेणी में एक मील का पत्थर दुनिया के सम्मुख रख दिया जिसे 'ट्रिक आई म्यूज़ियम' के नाम से जाना गया। इसकी लोकप्रियता व अनोखेपन ने कई देशों को इस संकल्पना की ओर आकर्षित किया। इसी क्रम में सिंगापुर के अति खूबसूरत संतोसा द्वीप पर 'ट्रिक आई म्यूज़ियम' की जड़ें जम गईं।

यह संग्रहालय अपनी तकनीकी व कला के द्वारा 'टूडी पेंटिंग्स' और कलाकृतियों को 'थ्री डी' प्रभाव वाले भ्रमात्मक संसार में परिवर्तित करने के लिए अपना लोहा मनवा रहा है। यह पर्यटकों व स्थानीय लोगों के लिए अति रोमांचक स्थल बन चुका है। लोग अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग करते हुए 'फ़ोटोग्राफ़ी' के एक से एक नायाब नमूने खींच रहे हैं। कुछ 'थ्री डी' प्रभाव तो इतने भ्रमित करने वाले हैं कि असलियत न बताने पर लोग आपकी तस्वीर को सच मान लेंगे।

सिंगापुर के इस संग्रहालय में ९० कला-नमूने हैं। यहाँ की कई कलाकृतियाँ सिंगापुर के लिए खास बनाई गई हैं जिन्हें कोरिया के संग्रहालय में भी नहीं देखा जा सकता। इस संग्रहालय में छह मुख्य भाग हैं- 'वर्ल्ड ऑफ़ मास्टरपीस, सफ़ारी किंग्डम, स्टार ऑफ़ सर्कस, ड्रीम ऑफ़ फ़ेयरीटेल, लव इन विंटर और एडवेंचर डिस्कवरी। कई कला-नमूने सिंगापुर की अद्वितीय संस्कृति को ध्यान में रख कर बनाए गए हैं जैसे

> *सिंगापुर के इस संग्रहालय में ९० कला-नमूने हैं। यहाँ की कई कलाकृतियाँ सिंगापुर के लिए खास बनाई गई हैं जिन्हें कोरिया के संग्रहालय में भी नहीं देखा जा सकता।*

घुड़दौड़ का सिंगापुर के लोगों में काफ़ी नशा है तो इसे एक विशेष रूप में यहाँ देखा जा सकता है। और फिर सिंगापुर के प्रतीक चिह्न 'मरलायन' के बिना यह संग्रहालय भला कैसे पूरा हो पाएगा!

तस्वीर खींचने व खिंचवाने का चलन पिछले कुछ वर्षों में जो गति पकड़ रहा है उसकी पूर्ति के लिए यह एक उत्तम स्थल माना जा सकता है। यहाँ लोगों को तरह-तरह के थ्री डी प्रभाव में अपनी तस्वीरें खींचने का अवसर मिल रहा है। कला व तकनीकी के मेल से बना यह संग्रहालय आँखों का खेल है जो आपकी आँखों को जो चाहे दिखा सकता है।■

डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा 'गुणशेखर'

१ नवम्बर १९६२ के समशेर नगर, बहादुर गंज, सीतापुर, उत्तर प्रदेश में जन्म। विगत दो दशकों से साहित्य सृजन में सक्रिय। 'दलित साहित्य का स्वरूप विकास और प्रवृत्तियाँ' पुस्तक प्रकाशित। शिरोमणि सम्मान (साहित्य, कला परिषद जालौन) तथा तुलसी सम्मान (मानस स्थली, सूकरखेत, उत्तर प्रदेश) से सम्मानित। सम्प्रति- आचार्य, हिन्दी विभाग, गुआंगदांग अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ग्वान्जाऊ,चीन।

सम्पर्क : dr.gunshekhar@gmail.com

विदेशियों को चीनी सिखाती छात्राएँ

क्वांग्तोंग वैदेशिक अध्ययन विश्व विद्यालय की अनेक खूबियाँ मैंने देखीं और सराहीं। लेकिन अभी जिस खूबी की बात करने जा रहा हूँ उसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। यहाँ का शासन-प्रशासन और विश्वविद्यालय अपने विद्यार्थियों को स्नातक से ही विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित करने लगता है। अपने यहाँ बिजिनेस स्कूल के छात्र-छात्राएँ उतने अवसर नहीं पाते जितने कि यहाँ कला वर्ग के विद्यार्थी पा जाते हैं। अभी कुछ दिनों पहले ही इस विश्व विद्यालय का स्वर्ण जयंती वर्ष मनाया गया था। उसमें तरह-तरह के आयोजन संपन्न हुए। यह आयोजन इतना बड़ा था कि पूरे दो हफ्ते चला। दुनियाभर के विश्वविद्यालयों के सैकड़ों कुलपति यहाँ आए थे। सभी दूतावासों और कोंसुलेटों के राजदूत और महावाणिज्य दूत आमंत्रित थे। भिन्न-भिन्न मौकों के लिए भिन्न-भिन्न राजकीय अतिथि आए थे। परंतु मजाल है कि विश्वविद्यालय एक भी दिन बंद हुआ हो। कोई भी कार्यक्रम बिना पास के नहीं हुआ था। लेकिन पुलिस का जमावड़ा मैंने कहीं नहीं देखा। सारा कुछ प्रबंध स्वयंसेवी छात्रों के जिम्मे था। वाकी-टॉकी लिए घूमते हुए छात्र-छात्राएँ एक गंभीर वातावरण सृजित कर रहे थे। मुझे यह सब देखकर विश्वास ही नहीं हो रहा था कि अभी आयोजन के दो-एक दिन पहले तक एक-दूसरे की गलबहियों में झूलने वाले लड़के-लड़कियां एक राष्ट्रीय आयोजन का हिस्सा थे। अपने यहाँ होता तो सेटिंग शुरू हो जाती। पास रिश्तेदारों को बाँटे जाते। विभिन्न छात्र संघों के आका अंगूठा छाप नेता बैठकर किसी रँगीले कार्यक्रम की प्रतीक्षा करते। यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता। सभी काम बिना किसी शोर के सहज रूप में संपन्न होते हैं।

अपने यहाँ के विश्वविद्यालयों के आयोजनों की अफरा-तफरी और उसमें छात्र-छात्राओं की उदासीनता में इनका कितना योगदान है। यह कहकर हम अपनी युवा पीढ़ी को दोष नहीं देना चाहते। बल्कि यथार्थ की समीक्षा करना चाहते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें सही ढंग से प्रशिक्षित न किए जाने के कारणों पर गौर करें तो यही पाएँगे कि हमने अब तक कहीं भी कोई कार्य संस्कृति ही नहीं विकसित की है। अंग्रेज़ों की चाटुकारिता के राजपथ पर अब भी चल रहे हैं। आयोजनों में अनावश्यक धन बहाते हैं। जो संदेश देना चाहते हैं वही नहीं दे पाते हैं। इन दिनों विश्वविद्यालयों में अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों का फैशन है। ऐसे आयोजनों में प्रायः भारत आना-जाना रहता है। वहाँ के दृश्य देखकर पीड़ा होती है कि हम कितने पिछड़े हैं? हम यह हकीकत ही भूल जाते हैं कि केवल राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय लिख देने भर से कोई आयोजन राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय नहीं हो जाता। उसके लिए उस स्तर की व्यवस्था और उसमें वैसा चिंतन-मनन और विमर्श भी अपेक्षित होता है। अपने यहाँ भौतिक प्रबंध अच्छा हो जाता है तो विमर्श नहीं और विमर्श अच्छा हो जाता है तो प्रबंधन सही नहीं। आयोजन से बाहर निकलते ही सारा विमर्श हवा हो जाता है।

अन्य आयोजनों की क्या बात करें यहाँ तक कि दसवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में भी मैंने जिस स्तर का प्रबंध देखा-सुना, वैसा चिंतन और विमर्श किसी भी सत्र में नहीं पाया। कमोबेश हर सत्र में सब पर सबको निबटाओ जैसी प्रवृत्ति ही तारी थी। हमारे देश के सत्ता शीर्ष पर जमे किसी शीर्ष स्त्री-पुरुष या उस शीर्ष स्त्री-पुरुष को विश्वास में लेकर यश लूटने में लगे देशी जनों की यह प्रवृत्ति ही किसी व्यवस्थित कार्य संस्कृति को रूप और आकार नहीं लेने देती।

चीन में मैंने एक व्यवस्थित कार्य संस्कृति देखी है। कुछ अपवादों को छोड़कर यहाँ कोई किसी को खुश करने के लिए काम नहीं करता। हर कोई किसी को भी काम करके ही खुश करता है। विद्यार्थी भी इसी वातावरण में प्रशिक्षित होते हैं तो स्वाभाविक है कि उनमें गुणवत्ता होगी ही। ज़ाहिर है कि ऐसा वातावरण पाकर उनमें आत्म विश्वास भी भरपूर पनपेगा और उनके भीतर काम करने की ललक भी। हम विदेशी विशेषज्ञों को यहाँ की तृतीय और चतुर्थ वर्ष की छात्राएँ मैंडरिन सिखा रही हैं। दुनियाभर के चर्चित और प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों से आए रीडर और प्रोफेसर इन छात्राओं से सीखते हुए कभी ऐसा महसूस नहीं करते कि उन्होने अपना कीमती समय जाया किया है। या फिर किन्हीं बच्चों से सीख रहे हैं। इन्हें मेथडोलोजी का भी भरपूर ज्ञान है। अनेक गतिविधियां कराती हैं। दो घंटे की कक्षा में मात्र दस मिनट का अंतराल रखा जाता है। इस बीच हर कोई प्रायः स्वतः ही पाँच से दस मिनट के भीतर कक्षा में वापस आ जाता है। इनकी कक्षाएँ इतनी रुचिकर होती हैं कि एक भी मिनट जाया करने का मन ही नहीं करता। बिना बीएड-एमएड किए हुए ही ये बहुत सुंदर-सुंदर पाठ-योजनाएँ बनाती हैं। इनके पावर प्वाइंट अद्‌भुत होते हैं। किसी व्यावसायिक भाषाविद् की तरह ये सूक्ष्म से सूक्ष्म बिंदुओं को अपने पाठों में रखती हैं। जब हमने टंकण और मुद्रण के युग में लेख को दरकिनार कर दिया है तब भी ये अक्षरों को मोतियों की तरह चुन-चुन कर रखते हैं।

ऊपर के श्याम पट्ट पर पहली छात्रा ने पहली पंक्ति में ऊपर से नीचे के क्रम में चोंग वे ई ह (हमारे विश्वविद्यालय के कुलपति), शी चिन फिंग (चीन के राष्ट्रपति) उसके बाद नीन (आप) शब्द लिखे हैं। अगली पंक्ति में श्याओचांग, चु शि और नी हैं। श्याओचांग का अर्थ कुलपति होता है और चु शि का सचिव। यहाँ कम्युनिष्ट पार्टी के सचिव विश्वविद्यालय का प्रशासन देखते हैं। प्रशासनिक अनुभव वाले सरकारी सेवक यानी कुलसचिव (रजिस्ट्रार) नहीं। वे अपने राजनीतिक दल के प्रति वफ़ादार होते हैं। दूसरी छात्र हाथ में एक हस्तलिखित कार्ड लिए हुए है, चीनी भाषा में यह स्वैसी xuexi कहलाता है। इसमें बॉक्स के ठीक बाहर बाईं तरफ़ सब सबसे पहला

शब्द दहह है जिसका अर्थ होता है और। दूसरा शब्द हान यू है जिसका शब्दार्थ है हान जाति की भाषा। हान एक जाति का नाम है और यू भाषा को कहते हैं। इस देश की आबादी में हान जाति के हिस्से का प्रतिशत ९४ से भी अधिक है। इसलिए इस भाषा को हान यू कहते हैं। लेकिन आजकल मंडारिन के लिए हानयू की अपेक्षा 'चोंग वन' का प्रयोग अधिक होता है, जिसका अर्थ होता है चीन की भाषा। चीनी भाषा में चीन को 'चोङ् क्व' कहते हैं। वन का मतलब लिखित भाषा होता है। अतः चोंग्वन का अर्थ हुआ मंडारिन का लिखित रूप और हान यू का मतलब हुआ चीनी का मौखिक रूप। फ़ायीनउ उच्चारण, चा चि (cha chi) उपत्रिका, hanzzi (चीनी करेक्टर), kweshing क्वेशिंगउ आपका नाम क्या है? शम्माउ क्या आदि शब दूसरे बोर्ड पर लिखे हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि मंडारिन एक साधारण भाषा नहीं बल्कि अति विशिष्ट और सौंदर्य संपन्न भाषा है, जो अपने अर्थ और उनके संदर्भों दोनों में अति विशिष्ट है, जिसे आसानी से भुलाया नहीं जा सकता।

पिछले आलेख में मैंने मैंडरिन सीखने के कुछ गुरों की चर्चा की थी। अबकी हम आपको उससे आगे की यात्रा पर ले चलेंगे। चीन की यात्रा भाषा-ज्ञान के अभाव में खतरनाक भी सिद्ध हो सकती है। हर यात्री को कम से कम रोमन में लिखे हुए को पढ़ लेना ज़रूर सीख लेना चाहिए। यदि किसी को रोमन में लिखकर दिखाएंगे तो शायद पकड़ ले। लेकिन यदि उनके उच्चारण के हिसाब से नहीं लिखा तो मुश्किल होगी। उदाहरण के लिए जहां हम रहते हैं वह पाययून जनपद है।

इसे रोमन Baayyun लिखते हैं। चूंकि यहाँ ड को प पढ़ते हैं इसलिए हमारे उच्चारण दोष के कारण लोगों को समझने में परेशानी हो सकती। हम बाययून बोलेंगे और वे पाययून। हमें चीन यात्रा पर निकलने के पूर्व कम से कम यह ज्ञान तो दुरुस्त कर ही लेना चाहिए। अधिकांश टैक्सी वाले रोमन लिपि भी नहीं जानते। इसलिए यहाँ यात्राएँ साधनों की उपलब्धता के कारण अब दुर्गम भले न रही हों पर अब भी दुष्कर अवश्य हैं।

चीन आने वाले हर यात्री को अपनी यात्रा सुगम बनाने के लिए सबसे पहले रोमन वर्णों के चीनी उच्चारण सीखने चाहिए। कम से कम इतनी जानकारी होनी चाहिए कि इनकी भाषा में चार टोन मुख्य होते हैं और इनके अलावा एक न्यूट्रल टोन भी होता है। कैंटोनी में तो आठ टोन बताए जाते हैं। टोन के हिसाब से एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ निकल सकते हैं। जैसे ड्ठ यानी पा। पा के अनेक अर्थ होते हैं जो नीचे दिए जा रहे हैं- पिता, आठ, खींचना और लक्ष्य। ऐसे ही मा शब्द के टोन बदलने से घोड़ा और माँ दोनों अर्थों को अलगाया जा सकेगा नहीं तो माँ को घोड़ा और घोड़े को माँ बनते देर नहीं लगेगी। यह सब सीखने से चीन यात्रा पर आने वाले लोगों को बहुत मदद मिलेगी। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि यहाँ ड से ब नहीं प की ध्वनि को व्यक्त करते हैं। इसी तरह डु से त, द्य से थ आदि। आज हम कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों और वाक्यों की चर्चा करेंगे जो हमारी चीन यात्रा में मददगार साबित हो सकते हैं।

चीन आने वाले हर यात्री को अपनी यात्रा सुगम बनाने के लिए सबसे पहले रोमन वर्णों के चीनी उच्चारण सीखने चाहिए। कम से कम इतनी जानकारी होनी चाहिए कि इनकी भाषा में चार टोन मुख्य होते हैं और इनके अलावा एक न्यूट्रल टोन भी होता है।

सबसे पहले यही जान लें कि यात्रा को लियूशिंग कहा जाता है। नमस्ते के लिए नी हाव बोलें और यदि सामने वाला या वाली बुजुर्ग हो तो नीन हाव। नीन का अर्थ आप होता है और नी का तुम। नीन आदरवाची शब्द है। इनके उत्तर में भी यही शब्द बोले जाएंगे जैसे हिंदी में नमस्ते के बदले नमस्ते। कोई कुछ मदद करे तो उसके लिए शिए शिए यानी धन्यवाद कहें। कोई आपको शिए शिए कहे तो आप उससे पु ख ची यानी कोई बात नहीं कहें। कम से कम दस तक गिनती सीख लें। ई-१, अर-२, सान-३, त्सी-४, ऊ-५, ल्यो-६, छि-७, पा-८, च्यो-९ और शि-१०। यह और वह के लिए च और था हैं। इसी तरह च ली और ना ली यहाँ-वहाँ हैं। वो मैं, वोमन-हम, नी और नीन तुम और आप हैं। आने वाला कल मीनथिएन और बीता हुआ हौथिएन है। आज का दिन चिनथिएन है। चितान मुर्गी के अंडे, यातान बतख के अंडे, आयूतान मगरमच्छ के अंडे, त्वयि ठीक, हनहाव बहुत सुंदर, इन्दु भारत और इन्दु रन भारतीय है। कोई मिले तो उससे अलग होते समय रन शी नी हाँ काओसिंग कहना न भूलें। ये लोग अङ्ग्रेज़ी जानते होंगे तो भी नाइस टु मीट यू की जगह यह वाक्य पसंद करेंगे। इन्हें अङ्ग्रेज़ी पर नहीं मंडेरिन पर गर्व है। कुछ खरीदना हो तो तो श्याओच्यान बोलें तो सामने वाला कलकुलेटर या मोबाइल पर दाम लिखकर बता देगा। शि लगाए उसे दस से गुना करें और पाई लगाए तो सौ से। जैसे 'ई पाई सान शि'। इसका अर्थ है एक सौ तीस। इसका अर्थ ऐसे निकाल सकते हैं कि ईउ १, पाईउ १०० और सानउ ३ और सी उ १०। ऊ पाई शि पा का मतलब है-५४५ और च्योपाई ल्यो सी का मतलब है ९६०। इसको ऐसे समझेंगे कि च्यो यानी ९ को पाई अर्थात सौ से गुना करेंगे तो होगा ९०० और ल्यो यानि छह को सी अर्थात १० से गुना करेंगे तो होगा ९ गुणा १० यानी ९०। दोनों को जोड़ देंगे तो होगा ९६०। आप को अगर मूल्य ज़्यादा लग रहा है तो दुकानदार को कहें मेयो या पूंसिए। फिर अपनी ओर से उसे बताएं कि 'छि पाई' यानी कि हम सात सौ देना चाहते हैं। वह यदि पापाई बोले तो समझो आठ सौ मांग रहा है। इस पर छि पाई ऊ सी कहकर सौदे के लिए सात सौ पचास का ऑफर आप उसे दे सकते हैं। इस तरह आप मोलभाव भी कर सकेंगे। बाहर सबसे ज़रूरी चीज़ है शौचालय। वह इसलिए कि यहाँ पर दीवालों को गीला करना असभ्यता माना जाता है और ऐसा असभ्य यहाँ नहीं पाया जाता। इसलिए शौचालय को ट्वायलेट न बताएं तो बेहतर रहेगा। शौचालय को छोशोवा या शि साव चान यानी हाथ धोने का स्थान बोलें। हमारे टोन और उच्चारण दोष के कारण यदि लोग देर से समझें तो परेशान न हों। प्रयास करते रहें। किसी न किसी की समझ में तो आएगा ही।■

ध्रुव शुक्ल

११ मार्च १९५३ को सागर में जन्म। कवि-कथाकार के तौर पर पहचान। 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज' एवं 'कचरा बाज़ार' उपन्यास, 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी', 'एक बूँद का बादल', 'हम ही हममें खेलें' कविता संग्रह, 'हिचकी' कहानी-संग्रह प्रकाशित। राष्ट्रपति द्वारा कथा एवार्ड और कला परिषद् के रज़ा पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क : एम.आई.जी.-५४, कान्हा कुँज, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.) ईमेल - kavi.dhruva@gmail.com

काहे को झूठी बनाओ बतियाँ

कवि जयदेव रचित गीत गोविन्द, जिसका अर्थ सिर्फ़ पढ़कर नहीं, देख और सुनकर खुलता है। वह चित्रकला, संगीत और अभिनय पर आज भी छाया हुआ है। ओडिसी और मणिपुरी नृत्य उसके बिना पूरे नहीं होते। वह आठ सौ सालों से हमारे जीवन में निरन्तर वर्तमान है। गोविन्द का यह गीत बीतता ही नहीं।

जरा सुनिए, राधारानी आज भी कृष्ण को कैसी खरी-खरी सुना रही हैं-

हरि हरि!
याहि माधव! याहि केशव-
मा वद कैतव वादम्।
तामनुसर सरसी रुहलोचन!
या तव हरति विषादम्।

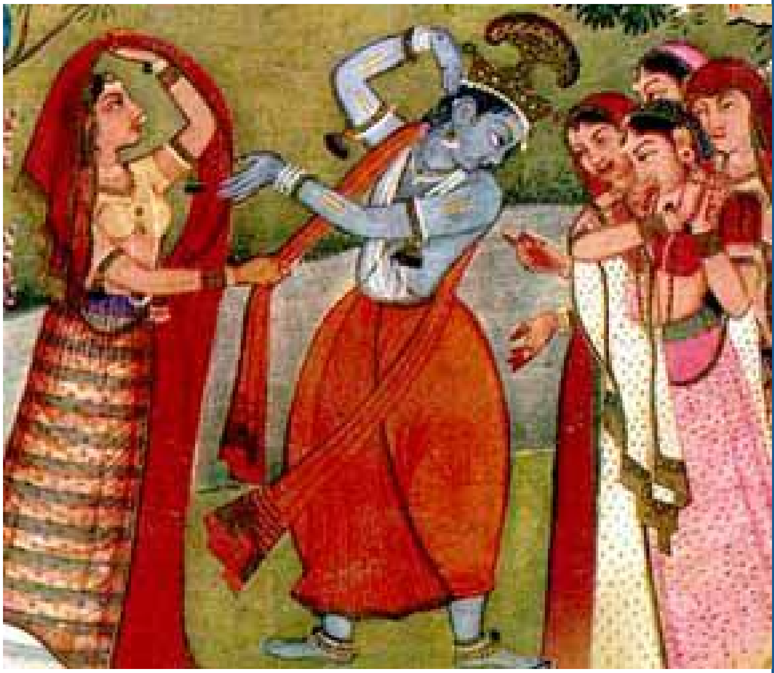

'हे माधव! हे केशव! मुझे खेद है; आप चले जायँ। यहाँ झूठ न बोलें। हे कमलनयन! आपके विषाद को जो दूर करती है; उसी के पास जायँ।'

> *भोर होते ही श्रीकृष्ण राधा को मनाने आये। पर वह कहाँ मानने वाली थी। उसने तो खरी-खरी सुना दी कि जाओ उसी के पास जिसने तुम्हारी देह को रँग दिया है। रूठी हुई राधा को कृष्ण नहीं मना पाते।*

बड़े गुलाम अली खाँ की आवाज़ आ रही है-

हटो जाओ!
जहाँ रहे तुम रतियाँ।
चलो काहे को झूठी-
बनाओ बतियाँ।

राधारानी श्री कृष्ण से इतनी खफा क्यों हैं; उन्हें हुआ क्या है। 'आखिर इस मर्ज़ की दवा क्या है।'

बात इतनी-सी है कि बसन्त ऋतु के आगमन पर मुग्ध गोपियों के साथ श्रीकृष्ण विहार करने लगे। श्रीराधा से यह सहा न गया और उनसे रिसा गयीं। श्रीकृष्ण ने सन्देशा भेजकर बुलाया तो विरह के अनन्त में खोयी हुई राधा उन तक पहुँच न सकीं और रात हो गयी। उनकी

> गीत गोविन्द काव्य को आत्मसात करने वाले रसिक जन यह कहते हैं कि प्रकाश रूप श्रीहरि पृथ्वी रूप राधा की आकाँक्षा को अपनी ओर न जाने कब से खींच रहे हैं। व्याकुल राधा हर पल सूर्य की फेरी लगाती है, उसी के ताप में तपती है। श्रीहरि मेघ बनकर उन पर छा जाते हैं और वे उनकी अंकशायिनी बनकर दामिनी-सी तड़प उठती हैं।

सखी कृष्ण को बुलाने गयी पर खाली हाथ ही लौट आयी।

भोर होते ही श्रीकृष्ण राधा को मनाने आये। पर वह कहाँ मानने वाली थी। उसने तो खरी-खरी सुना दी कि जाओ उसी के पास जिसने तुम्हारी देह को रँग दिया है। रूठी हुई राधा को कृष्ण नहीं मना पाते। वे चले जाते हैं और उसी तरह विरह में तपते हैं; जैसे राधा।

रात घिरते ही फिर राधा ही उन्हें खोजती है। वह नूपुर झनकाती हुई केलिगृह में प्रवेश करती है और लज्जा से भरी वह गोविन्द को अभिलाषा से निहारती है-

जिस तरह चन्द्र मण्डल को देखकर समुद्र चञ्चल हो उठता है; उसी तरह प्रसन्न गोविन्द को राधा ने देखा। उसे श्रीहरि के वक्ष पर झूलता उज्ज्वल हार ऐसे लगा मानो यमुना के जल पर झाग हिलुर रहा हो। उन की श्यामल देह पर पीताम्बर ऐसे लग रहा था जैसे नीलकमल अपने पीत पराग से परिपूर्ण हो।

चञ्चल नेत्रों से रति अनुराग उत्पन्न करने वाले गोविन्द का मुख उसे ऐसे लगा मानो शरद ऋतु में तड़ाग के भीतर खिले हुए कमल पर खञ्जरीट पक्षी खेल रहे हों। श्रीहरि के बालों को देखकर उसे लगा कि जैसे बादलों की ओट में चन्द्रमा छिपा हो। श्याम वर्ण के भाल पर चन्दन तिलक देखकर राधा अंधकार में पूर्णचन्द्र के उदित होने के आभास से भर गयी।

गोविन्द के रूप को पीती हुई राधा की लज्जा भी लज्जित होकर उससे दूर चली गयी। चिरकाल से अभिलषित- 'राधा-माधव भेंट भई।'

गीत गोविन्द काव्य को आत्मसात करने वाले रसिक जन यह कहते हैं कि प्रकाश रूप श्रीहरि पृथ्वी रूप राधा की आकाँक्षा को अपनी ओर न जाने कब से खींच रहे हैं। व्याकुल राधा हर पल सूर्य की फेरी लगाती है, उसी के ताप में तपती है। श्रीहरि मेघ बनकर उन पर छा जाते हैं और वे उनकी अंकशायिनी बनकर दामिनी-सी तड़प उठती हैं। उनका काजल फैल जाता है। कर्ण कुण्डल गिर जाते है। केश राशि बिखर जाती है। तिलक मिट जाता है। अलंकार बिखर जाते हैं।

श्रीराधा फिर श्रीहरि से ही आग्रह करती हैं कि मेरे नेत्राञ्जन की रेखा को आप ही सुधार दें। फैले हुए काजल को फिर से कुण्डल पहना दें। मेरे केशों को बाँध दें, फूलों से सजा दें। ललाट पर धुधँले हो गये कस्तूरी तिलक को फिर अंकित कर दें। मुझे मेरे गहने पहना दें।

जैसे नीलगगन के तले पृथ्वी सँवर रही हो। वर्षा के बाद प्रेमाँकुरण के अह्लाद से भर रही हो, वैसे ही श्रीराधा भी श्रीहरि के हाथों सज-सँवर रही हैं।

रसज्ञ पण्डित विद्यानिवास मिश्र गीतगोविन्द से विभोर हो; कह उठते हैं- 'श्री कृष्ण के स्मरण का कुसुमित परिणाम है राधा स्मरण। श्री कृष्ण रूप में कोई गंध नहीं, पर जब वे राधा के अंग के श्रृंगार बनते हैं तो मात्र काले रंग के नहीं रहते, कस्तूरी के रस बन जाते हैं और रस बनकर राधा के रोम-रोम में खिले आकाँक्षाओं के असंख्य कुसुमस्तवकों में रस की तरह आपूरित हो जाते हैं। श्री कृष्ण का घनश्याम रूप बसन्त का आभरण पाता है और राधा का मधुमय यौवन श्री कृष्ण की कस्तूरी गन्ध का आमोद। राधा कभी अकेली हैं ही नहीं; वे श्री कृष्ण की असंख्य सुधियों के बीच हैं; वे नित्य बसन्त हैं; नित्य नूतन होने की आकाँक्षा हैं।'

आइए, गीत गोविन्द की आकाँक्षा में रमण करें।■

उदयन वाजपेयी

जन्म १९६० सागर, मध्यप्रदेश। चर्चित कवि-कहानीकार। कहानी संग्रह- सुदेशना, दूर देश की गन्ध, कविता संग्रह- कुछ वाक्य, पागल गणितज्ञ की कविताएँ, एक निबन्ध संग्रह, फिल्मकार मणिकौल के साथ उनके सम्वाद की पुस्तक 'अभेद आकाश' प्रकाशित। कृतियों का तमिल, बंगाली, मराठी, फ्राँसीसी, पोलिश, बुल्गारियायी, स्वीडिश, अँग्रेजी आदि में अनुवाद। कृष्ण बलदेव वैद फैलोशिप और रज़ा फाउण्डेशन पुरस्कार से सम्मानित।

संपर्क : एफ-९०/४५, तुलसीनगर, भोपाल-४६२००३ ई-मेल : udayanvajpeyi@gmail.com

नजरिया

राजनीति में प्रवेश के चोर दरवाज़े

उनतीस जनवरी १९४८ को महात्मा गाँधी देर रात तक काम करते रहे। वे एक बहुत आवश्यक कार्य में व्यस्त थे। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नये संविधान के ड्राफ्ट का अन्तिम स्वरूप तैयार कर रहे थे। कांग्रेस के इस संविधान के अनुसार कांग्रेस को कुछ ही वर्षों बाद एक राजनैतिक दल के रूप में विघटित हो जाना था और उसकी जगह उसे लोक सेवक संघ के रूप में पुनर्नियोजित किया जाना था। यानि उस संविधान के स्वीकृत हो जाने पर कांग्रेस पार्टी राजनैतिक दल नहीं रह जाती और एक सामाजिक संस्था के रूप में पुनर्जन्म लेती। गाँधी जी को यह ठीक-ठीक मालूम था कि राजनैतिक पार्टियों के आधार पर चलता संसदीय लोकतन्त्र एकमात्र लोकतान्त्रिक व्यवस्था नहीं है, वे यह भी जानते थे कि राजनैतिक दलों के आधार पर चलने वाली लोकतान्त्रिक व्यवस्था को शुरू हुए बहुत समय नहीं हुआ है। वह इटली में उन्नीसवीं शती की शुरूआत में शुरू हुई थी और बीसवीं शती के आते-आते उस व्यवस्था की आन्तरिक खोटें सामने आने लगी थी। गाँधी जी भारत में वैकल्पिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के पक्षधर थे। पर वैसा हो नहीं पाया। गाँधी जी का विचार, विचार ही रह गया। उसका क्रियान्वयन नहीं हो सका। भारत में राजनैतिक दलों के आधार पर चलने वाली संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ ही लागू रही आयी। इसकी खोटें तो पहले से ही ज्ञात थीं पर भारत में इस व्यवस्था के स्थापन के बाद इन खोटों में निरन्तर बढ़ोत्तरी होती गयी है। इन नयी-नवेली खोटों में से एक का हम यहाँ ज़िक्र कर रहे हैं।

राजनीति में प्रवेश का मार्ग आमतौर पर सामाजिक कार्य या कॉलेज या स्कूल के स्तर पर सार्वजनिक मुद्दों पर आवाज़ उठाना आदि हुआ करता था। जो भी व्यक्ति राजनीति में शामिल होने की इच्छा रखता था, वह लम्बे समय तक किसी महत्वपूर्ण सार्वजनिक कार्य में संलग्न रहा करता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले के लगभग सभी राजनेता इसी मार्ग से राजनीति में प्रवेश करते थे। यही वह भूमि थी जिस पर काम कर व्यक्तियों को राजनीति में प्रवेश मिला करता था। लेकिन बहुत जल्दी ही राजनीति में प्रवेश के नये-नये रास्ते तैयार हो गये। संयोग से ये सारे रास्ते राजनीति में पिछले दरवाज़ों से प्रवेश करने के थे। कभी किसी राजनेता के घर में पैदा होना ही राजनीति में प्रवेश का आश्वासन बना और प्रवेश ही क्यों

> जीवेत् शरदः शतम्। हे अज्ञात कुलशील, तुम सौ साल तक जियो। फिर इस अज्ञात कुलशील का चेहरा बार-बार कई-कई तरह के पोस्टरों पर आने लगता है। कभी वह किसी बड़े राजनेता के आगमन का उत्सव मनाता हुआ नज़र आता है, कभी किसी और सन्दर्भ में यह चेहरा पोस्टरों पर आ जाता है।

सत्ता और सरकार में भी प्रवेश का मार्ग बना। इसका सबसे भव्य उदाहरण नेहरू गाँधी परिवार बना। यह बात नोट करने की है कि इस 'गाँधी-नेहरू' में गाँधी फिरोज़ गाँधी हैं, मोहनदास करमचंद गाँधी यानि महात्मा गाँधी नहीं। इसी तरह दूसरे राजनैतिक परिवारों के बालक-बालिका भी बड़े होकर राजनीति में ज़रा भी सार्वजनिक कार्य किये बिना ही प्रवेश पा गये। जैसे कोई प्री-मेडीकल परीक्षा पास किये बिना चिकित्सा महाविद्यालय में दाखिला पा जाये। लेकिन इस चोर दरवाजे की गुंजाइश संसदीय लोकतन्त्र के स्वरूप में ही थी इसीलिए ऐसा कुछ हो सका। लेकिन अब लोगों ने राजनीति में प्रवेश का एक नया बिल्कुल ही नया चोर दरवाज़ा खोज लिया है।

इस दरवाजे का हर शहर में भरपूर उपयोग हो रहा है और इस दरवाजे से बड़ी संख्या में लोग राजनीति में घुसते चले जा रहे हैं, सत्ता में शामिल होते चले जा रहे हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह रास्ता दीवारों से होकर जाता है। दरअसल यह रास्ता पोस्टर का रास्ता है। गाहे-बगाहे शहर की दीवारों और विज्ञापन के होर्डिंगों पर कुछ अज्ञात कुलशीलों के चेहरे चिपका दिये जाते हैं। उनके नीचे उन्हीं जैसे कुछ और अज्ञात कुलशीलों की तस्वीरें होती हैं जो मुख्य अज्ञात कुलशील के सौ-सौ साल जीने की कामना करती हैं : जीवेत् शरदः शतम्। हे अज्ञात कुलशील, तुम सौ साल तक जियो। फिर इस अज्ञात कुलशील का चेहरा बार-बार कई-कई तरह के पोस्टरों पर आने लगता है। कभी वह किसी बड़े राजनेता के आगमन का उत्सव मनाता हुआ नज़र आता है, कभी किसी और सन्दर्भ में यह चेहरा पोस्टरों पर आ जाता है। जब यह चेहरा बहुत बार पोस्टरों पर चिपकाया जा चुका होता है या फ्लैक्सों पर आलोकित हो चुका होता है तब शहर के लोग इसे पहचानने लगते हैं। उन्हें यह लगने लगता है कि पोस्टरों पर मुस्कुराता यह व्यक्ति हो न हो उनका आत्मीय ही है। जैसे ही यह भावना लोगों के मन में आती है, इसे भाँप कर पोस्टरों में रहता यह व्यक्ति चुनाव में उतर आता है। अगर यह व्यक्ति किसी राजनेता का सम्बन्धी हुआ तो इसे किसी बड़े चुनाव का टिकिट मिल जाता है वरना किसी छोटे चुनाव के मैदान में इस पोस्टर मनुष्य का अवतरण होता है। हो सकता है पहली बार में यह चुनाव हार बैठे। लेकिन इससे उसके पोस्टरों के चिपकने की दर बढ़ जाती है। अब उसे सौ साल तक जीने की कामना करने वाले पोस्टरों के अलावा पच्चीसों सन्दर्भ में पोस्टरों पर लाया जाता है। लोग अब इसे और अधिक देखते रहते हैं, लोग अब इसे और अधिक अपना मानने लगते हैं। अपनत्व की इस भावना के गाढ़े होते जाने पर हमारा यह 'पोस्टर-ब्वॉय' और अधिक तैयारी से पोस्टर से उतरता है और जन सामान्य के बीच वोट मांगने की गुहार लगाने लगता है। हारकर या शायद इसे अपना मानकर लोग वोट देते हैं और इसका सालों तक पोस्टर पर टंगे रहना कामयाब हो जाता है।

इस तरह एक छवि एक राजनेता में तब्दील हो जाती है। ज़रा भी सार्वजनिक कार्य किये बिना पोस्टर-ब्वॉय राजनीति में प्रवेश कर जाता है। संसदीय लोकतन्त्र का यह सबसे खतरनाक चोर दरवाज़ा है। क्योंकि यहाँ राजनीति में प्रवेश कराने का कार्य विज्ञापन कम्पनियाँ करती हैं। वे ही यह तय करती हैं कि राजनीति में प्रवेश के इच्छुक किस व्यक्ति के कैसे पोस्टर तैयार किये जाएँ ताकि उनका लोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ सके। नकली नारे बनाये जाते हैं जिसे विज्ञापन की भाषा में कॉपी राइटिंग कहा जाता है, ऐसी तस्वीरें खींची जाती है जिससे हमारा पोस्टर-ब्वाय शिष्ट, शालीन और विचारशील दिखायी दे, जिससे उसकी आँखों में उन लोगों के प्रति गहरी सम्वेदना दिखायी दे जिनकी तरफ उसने नज़रें तक नहीं उठायी हैं।■

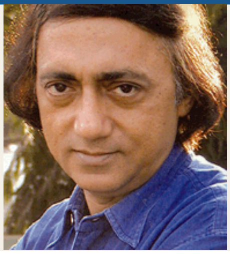

प्रभु जोशी

१२ दिसंबर, १९५० देवास के गाँव पीपलरावां में जन्म। जीवविज्ञान में स्नातक तथा रसायन विज्ञान में स्नातकोत्तर के उपरांत अंग्रेज़ी साहित्य में भी प्रथम श्रेणी में एम.ए., अंग्रेज़ी की कविता स्ट्रक्चरल ग्रामर पर विशेष अध्ययन। पहली कहानी १९७३ में धर्मयुग में प्रकाशित। 'किस हाथ से' लंबी कहानियाँ तथा 'उत्तम पुरुष' कथा संग्रह प्रकाशित। हिंदी दैनिक नईदुनिया के संपादकीय तथा फ़ीचर पृष्ठों का पाँच वर्ष तक संपादन। बचपन से चित्रकारी करते हैं एवं जलरंग में विशेष रुचि। मध्यप्रदेश साहित्य परिषद का कथा-कहानी के लिए अखिल भारतीय सम्मान। साहित्य के लिए गजानन माधव मुक्तिबोध फेलोशिप। संप्रति : स्वतंत्र लेखन एवं पेंटिंग।

संपर्क : ३०३, गुलमोहर निकेतन, वसंत विहार, इन्दौर। मोबाइल : ९४२५३-४६३५६ ईमेल : prabhu.joshi@gmail.com

परख

प्रतिरोध की राजनीति के कुछ पोपले प्रश्न

यह आकस्मिक नहीं कि हमारे इस कमजोर बौद्धिक आधार वाले, मौजूदा भारतीय-समाज की प्रकृति, पिछले कुछ दशकों से एक निरे बावलेपन से भरी हुई हो गई है, जिसे आसानी से किसी भी दिशा में हाँका जा सकता है। इसे हाँकने में इसकी कोई पुरानी 'देशज' परम्परा नहीं, बल्कि अत्याधुनिक 'प्रविधियां' काम कर रही हैं, जिसे इस देश का 'स्वतंत्र मीडिया' जादू की छड़ी की तरह, उसके हाथ में थमा रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'उदारवाद' के साथ ही भारत में, जिस तरह इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, अपने बहुमुखी शक्ति के साथ आया, और उसने 'दशानन' की तरह, अपने दस-मुखों से देश और समाज के बारे में बोलना शुरू किया। हमने उसे घर में, 'पितृपुरुष' के सम्मान से जगह दी और वह अन्ततः वह, हमारा स्व-घोषित अभिभावक बन गया। उसने, हमसे हमारी सोचने-समझने की सारी कूबत छीनी और हमें यह समझा दिया कि 'सोचने' का यह काम, अब तुम्हारा नहीं है। हमने ही तुम्हारे भविष्य को सुधार का गढ़ने की निविदा ले ली है। मीडिया ने, आते ही सबसे पहले हमें यह बताया कि हमें वह इक्कीसवीं सदी में ले जाने वाला है। तैयारियां करो और 'इतिहास के बोझ' को फेंको। 'बाजार' आ रहा है, वहाँ से तुम्हें 'नया भविष्य' खरीदना है।

बहरहाल, मीडिया ने, बाजारवाद के 'केन्द्रीय आशावाद' से, भारतीय समाज को एक विचित्र बावलेपन से भर दिया। उसने पहला काम ये किया कि भारत के भीतर एक दूसरा भारत पैदा करना शुरू किया- ये दूसरा भारत था, 'यंग इंडिया'। यह अल्प-उपभोगवादी भारत में, 'डीम-कन्ज्यूमिंग यूथ' का निर्माण करना था। कार्पोरेटी ग्लोबलिस्टों ने बताया कि इस 'उत्तर-आधुनिक मीडिया' का काम बिलकुल अलग है। दरअसल, वो काम था- अल्प-उपभोगवादी भारत में, एक नये 'ड्रीम-कन्ज्यूमिंग यूथ' का निर्माण करना। क्योंकि अपने बूते से बाहर के सपने का हक शेखचिल्ली से छीन लिया गया था। लेकिन, जल्दी ही शीराजा बिखर गया। क्योंकि, बाजार ने ज्यों ही, धर्म की नई पैकेजिंग शुरू की और जींसधारी यूथ के कन्धे पर, भगवा दुपट्टे लटके और राम-जन्मभूमि के ताले खुलते ही उसने बाबरी को ढहा दिया। अब उसका स्वप्न, 'हिन्दुओं के अखण्ड' भारत हो गया। इसी मीडिया ने फिर 'सबसे आगे होंगे हिन्दुस्तानी' की ललकार शुरू की और अचानक भारत सूचना प्रौद्योगिकी का 'विराटावतार' कहा जाने लगा। दुनिया उसकी 'मुट्ठी' में होने का भ्रम, बन गया और दुनिया पूंजीपतियों की मुट्ठी में जाने लगी। देखते-देखते, इंटरनेट और मोबाइल

आज जो यह 'भयादोहन' हमारे द्वारा किया जा रहा है, यह राजनीति का नया 'विनष्टीकरण' है। वैसे हमें एक घोर कम्युनिस्ट विचारक की इस बात को याद करना चाहिए कि एक आदमी की हत्या त्रासदी है, लेकिन हजारों की हत्या, महज आँकड़ा।

से निकली सुनहरी सुरंगों में, पूरा देश दाखिल हो गया। ध्यान से याद कीजिये, देश में कोई बड़ा उद्योग नहीं आया, सिर्फ धंधे (ट्रेड्स) आए। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और मौज-मस्ती का नया संसार खोलने वाले। लेकिन, आय के स्रोतों की कमी ने एक नई निराशा को जन्म दिया। सत्ता में भ्रष्टाचार की गुप्त-गंगा मुहाने तोड़ रही थी। तभी 'हैप्पी ईकोनोमिक्स' ने 'अच्छे दिन आने' की घोषणा की देश की राजनीति में ऐसा नया उलटफेर आया कि उसने सबको चौंका दिया। यह 'दल को ही देश' मानने वालों के लिए, 'राजनीतिक सदमा' था।

लेकिन उन्हें भारतीय समाज के बावलेपन पर पूरा भरोसा था कि जल्द ही उनके लिए कोई रास्ता निकल आयेगा। 'बाबरी' के बाद, 'दादरी' हो गई। लगे हाथ उनका 'डर' एकदम बड़ा बन गया। राजनीतिक दलों और बुद्धिजीवियों को खासतौर पर 'भय' लगने लगा। पहले उन्हें पोर्न साइट्स देखने के मौलिक अधिकार तक में 'अभिव्यक्ति का अपहरण' दिखने लगा और उन्होंने प्रतिरोध का शंखनाद कर दिया। इसके बाद 'भय' का ऐसा विस्तार शुरू हुआ कि करोड़ों की कोठियों वाले देश छोड़ने की तैयारी करने लगे। क्योंकि, यह बहुसंख्यक वर्ग की 'असहिष्णुता' की वजह थी। यह गृहयुध्द के लक्षण बनने-कहलाने लगे। लेकिन, यदि हम इस 'असहिष्णुता' का 'अंतर्पाठ' करें तो पाते हैं कि दरअस्ल, हम सत्ता प्रमुख को प्रजातांत्रिक दृष्टि से देख नहीं पा रहे हैं। हमें यह लग रहा है कि लड़ाई, जो 'उदारवादी जनतन्त्र' और 'नवपूंजीवाद' के बीच होने को थी, वह 'जनतंत्र और उन्नीसवीं सदी के धार्मिक मूलवाद' के बीच शुरू हो गई है। हमें लग रहा है कि राजनीति एक 'एथनोनेशनलिज्म' के जबड़े में फंस गई है। सारा मीडिया और सारे देसी-परदेसी बुद्धिजीवी इस 'भय' को बड़ा करने में अपने तर्कों का निवेश करने में लगे हैं। यह नहीं सोच पा रहे हैं कि आपकी निगाह में, यदि एक तानाशाह जनतान्त्रिक पध्दति से सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है तो क्या हमारा, उस पध्दति विश्वास ही उठ जाना चाहिये? क्या प्रजातन्त्र, अब एक अमोघ जन-अस्त्र की हैसियत से पूरी तरह हाथ धो चुका है? हम, यह कैसे भूल गये कि 'जनतन्त्र' को 'बर्दाश्त बाहर' बनाने देने वाला, जो ये मीडिया है, वही तानाशाही को भी असंभव कर देता है। अतः तानाशाही का भय व्यर्थ है। ये रेडीमेड भय है।

लेकिन, हक़ीकत ये है कि हम राजनीतिक दलों के 'निराशावाद' को ओढ़ कर, 'धर्मान्धता' से लड़ने के बजाय, धार्मिकता से भिड़ रहे हैं। याद करना चाहिए कि एक शान्त और निरावेशी-सा बहुसंख्यक समुदाय, यदि आज एक अंध-राष्ट्रवाद की तरफ बढ़ रहा है तो इसके लिए, दशकों तक 'सत्ता की संरचना' गढ़ने वाले दलों का ही दोगलापन है, जिन्होंने तुष्टीकरण को पोस्टडेटिड-चैक की तरह हर बार चुनाव में इस्तेमाल किया। धर्मान्धता से भिड़ने के नाम पर केवल उस दल ने 'हिंदू-विरोधी' का रूप ले लिया और मत-पेटी में नये प्रेत-प्रश्न पैदा कर दिये। अलबत्ता, आज हिन्दुत्व की भर्त्सना किए बगैर आप एक 'घृणित व्यक्तियों' की सूची में शामिल कर दिये जाते हैं। आप 'भारतीयता' से ही हाथ धो बैठते हैं। इस दृष्टिकोण ने ही, 'इस्लामिक कट्टरवाद' से होड लेते हिन्दुत्व की खतरनाक परिभाषा गढ़ने की, पूर्व पीठिका तैयार की।

दरअस्ल, इस समझ ने इस्लामिक-कट्टरवाद को चोट नहीं पहुँचाई, बल्कि एक 'समावेशी सामासिक संस्कृति' को क्षतिग्रस्त किया। आज जो यह 'भयादोहन' हमारे द्वारा किया जा रहा है, यह राजनीति का नया 'विनष्टीकरण' है। वैसे हमें एक घोर कम्युनिस्ट विचारक की इस बात को याद करना चाहिए कि एक आदमी की हत्या त्रासदी है, लेकिन हजारों की हत्या, महज आँकड़ा। एक घटना को पूरे देश की सहिष्णुता के आगे काले नेपथ्य की तरह डालना, हमें निश्चय ही शनैः शनैः, गृहयुध्द की तरफ ले जायेगा। ये भारतीय समाज के लिये एक चुना हुआ 'आत्मघात' है।■

अपूर्वानंद

दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन, साहित्यिक-सांस्कृतिक आलोचना का लेखन।

सम्पर्क : apoorvanand@kafila.org

विचार

असहिष्णुता के प्रतीकों की पहचान

> *ऐसा नहीं कि असहिष्णु तत्व भारत में ही कोई पहली बार पैदा हुए हैं। लेकिन उनके होने के बावजूद निजाम की ओर से भरोसा होता है कि उन्हें माहौल पर हावी होने न दिया जाएगा, लेकिन जब यह भरोसा निजाम न दे पा रहा हो, तो जो डर रहा है, उसे ही अपराधी घोषित कर देना और उस पर हमला बोल देना अगर चरम असहिष्णुता नहीं तो और क्या है?*

असहिष्णुता पर अब बात कर ही ली जाए। आमिर खान के वक्तव्य के बाद तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ है। आमिर की चौतरफा भर्त्सना हो रही है। उन्हें बताया जा रहा है कि जिस भारत ने उन्हें सितारा बनाया है, उसी को वे असहिष्णु कह रहे हैं, इससे बढ़कर कृतघ्नता क्या हो सकती है! उन्हें यह भी कहा जा रहा है कि जिस 'अतुल्य भारत' ने उन्हें अपना दूत बनाया, उसी को वे असहिष्णु कैसे कह सकते हैं!

आमिर की निंदा हो रही है कि उन्होंने भारत छोड़ने की बात कैसे कह दी। ऋषि कपूर उन्हें कह रहे हैं कि मैदान छोड़ने से काम नहीं चलता, यहीं डटकर मुकाबला करना चाहिए! वेंकैया नायडू उन्हें देशद्रोहियों की फैलाई अफवाह का शिकार होने से बचने का मशविरा दे रहे हैं। सरकार के प्रवक्ता कह रहे हैं कि हम आमिर खान को यहीं रखेंगे, कहीं जाने न देंगे, वे हमारे प्यारे हैं।

सलमान खान ने भले ही गुजरात की पतंग उड़ा ली हो, खानों से भारत के एक तथाकथित संगठन की चिढ़ पुरानी है। ये खान मिलकर भारत के सिने-साम्राज्य के बादशाह बने हुए हैं और इनकी छवि पर हिंदू कन्याएं निछावर हो जाती हैं, यह सोच-सोचकर इस संगठन के जलते दिल को मरहम लगा जब रितिक रोशन नामक एक नौजवान 'कहो न प्यार है' फिल्म का नायक बन कर आया। इस संगठन के मुखपत्र ने रितिक रोशन की तस्वीर अपने मुखपृष्ठ पर छापी और तसल्ली का इजहार भी किया कि आखिरकार खानों का जवाब देने को एक हिंदू नायक आ गया है।

आमिर खान पर यह पहला हमला नहीं हो आ रहा है। आज उन्हें भारत विरोधी बताया जा रहा है। कुछ बरस पहले जब उन्होंने नर्मदा बचाओ आन्दोलन का समर्थन किया था, उन्हें गुजरात विरोधी घोषित कर दिया गया था और उनकी फिल्म 'फना' का प्रदर्शन गुजरात में नहीं हो पाया था।

आज यह कहा जा रहा है कि आमिर को ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए क्योंकि इससे भारत की छवि विश्व में खराब होती है। और छवियों के समय में इससे बुरी बात क्या हो सकती है। चेहरा खुद आपका जैसा हो, तस्वीर उसकी अच्छी आनी चाहिए। फोटोशॉप की तकनीक का आविष्कार आखिर क्यों किया गया है?

सवाल यह पैदा होता है कि दुनिया को भारत की सरकार पर क्यों नहीं यकीन हो पा रहा, क्यों वह कभी नयन तारा सहगल तो कभी शाहरुख़ खान या आमिर खान को सुनने लगती है? ये तो जनता के नुमाइंदे नहीं, फिर दुनिया का ऐसा अविश्वास क्यों है?

देश की सरकार दुनिया की नजरों में अविश्वसनीय हो जाए इससे अधिक शर्म की बात हो ही क्या सकती है? लेकिन जब देश का प्रधानमंत्री देश के बाहर अर्धसत्य का सहारा ले और उसका पर्दाफाश चन्द घंटों में ही हो जाए तो उसके विश्वसनीय बने रहने का रास्ता ही क्या रह जाता है? अभी जब प्रधानमंत्री ने कहा कि २००३ में उनका इंग्लैंड दौरे पर स्वागत हुआ था तो भारतीय विदेश सेवा के ही एक अधिकारी ने दस्तावेजी प्रमाण दे दिए कि ब्रिटेन की तत्कालीन सरकार ने उनके ब्रिटेन दौरे को लेकर अपनी नाखुशी लिखित तौर पर जाहिर की थी और दुबारा बहुत सख्त ऐतराज जताया था।

तो पहले यही देख लें कि क्या आमिर खान ने यह कहा था कि भारत के मौजूदा माहौल की वजह से वे देश छोड़कर कहीं और बस जाने की सोच रहे हैं। आमिर खान ने कहा कि उनकी पत्नी, जोकि हिन्दूनाम धारी हैं और जिन्हें आमिर ने मुसलमान नहीं बना लिया है, आज के भारत के माहौल से घबराकर यह कह रही थीं कि उन्हें अपने बच्चों के लिए डर लगता है और लगता है कि उनकी हिफाजत के लिए देश छोड़ दें! आमिर ने कहा कि जो उनकी पत्नी किरण ने कहा, वह भयानक है। यानी, किसी डर की वजह से अपना मुल्क छोड़ने की बात सोचना भी भयानक है।

आमिर ने पत्नी की आशंका बताते हुए सिर्फ भारत में कुछ

समुदायों के बीच व्याप्त असुरक्षा की गंभीरता की ओर इशारा किया। क्या यह समझना मुश्किल है कि ये समूह कौन हैं। मुसलमान, ईसाई धार्मिक समूह तो ये हैं ही, इनके अलावा सरकार के आलोचक, चाहे वे कोई भी हों, अधिक से अधिक असुरक्षित महसूस कर रहे हैं।

राहुल पंडित ने, जो कश्मीर के अल्पसंख्यक पंडित समुदाय के सदस्य हैं, ठीक ही लिखा है कि असुरक्षा का सवाल इंसाफ न मिलने के अहसास से जुड़ा है। दादरी का अखलाक हो, नोमान या जाहिद, किसी भी मामले में इंसाफ का कोई भी इशारा सरकार की ओर से नहीं है। अगर असम के राज्यपाल को यह कहने का साहस है कि भारत हिन्दुओं का देश है, तो फिर अल्पसंख्यक मुसलमानों को क्या कायर कहा जाना चाहिए अगर वे असुरक्षित महसूस कर रहे हैं?

क्या मुसलमानों की असुरक्षा का ख्याल बनावटी है जब वे खुलेआम एक पार्टी के सांसद और उत्तर प्रदेश में उसकी चुनावी मुहिम के प्रमुख को हिंदुओं को ललकारते हुए यह सुनते हैं कि उन्हें मुस्लिम औरतों को कब्र से निकालकर उनका बलात्कार करना चाहिए।

दादरी के प्रसंग में एक तरफ बनावटी दुःख प्रकट किया जाता है, दूसरी ओर इस सरकारी दल से जुड़े लोग हत्या को इस तरह जायज बताने लगते हैं कि अखलाक के परिवार से गांव वाले 'लव-जिहाद' के चलते नाराज़ थे और उनके सांसद हिंदू गांववालों को 'जन-धन और गन' की मदद देने की घोषणा करते हैं।

जब इस सरकारी दल के वरिष्ठ नेता भारत में मुसलमानों और ईसाइयों की आबादी बढ़ने को भारत के लिए ख़तरा बताने लगते हैं तो इन आबादियों का उनके प्रति आशंकित होना क्या अस्वाभाविक है? अगर हिंदुओं की आबादी का बढ़ना खतरनाक नहीं तो मुसलमानों की संख्या का बढ़ना कैसे चिंताजनक है? मुसलमानों के प्रति यह असहिष्णुता आखिर कौन पैदा कर रहा है?

न तो आमिर खान ने कहा और न किसी और ने कि भारत असहिष्णु है। कहा सिर्फ यह जा रहा है कि भारत का शासक दल जिस परिवार का सदस्य है, उसके सदस्य असहिष्णुता पैदा कर रहे हैं। वे अल्पसंख्यकों में और सरकार के आलोचकों के भीतर भी असुरक्षा पैदा कर रहे हैं।

यह असुरक्षा अस्वाभाविक नहीं है। लेखकों के विरोध प्रदर्शन के बाद भारत के वित्त मंत्री ने, जो इस सरकार में नंबर दो पर माने जाते हैं, उन्होंने लगभग धमकी देते हुए लेख लिखा। यही बाकी मंत्रियों ने भी किया। ये सबके सब यह साबित कर रहे हैं कि तथाकथित संगठन या सरकार की आलोचना का अर्थ है भारत की आलोचना।

यह संगठन ही भारत है या सरकार प्रमुख ही भारत है, मानकर हर आलोचक पर कीचड़ फेंकना, उन्हें पाकिस्तान भेजने की धमकी देना, यह इस संगठन की आदत बन चुकी है। किसी को इसकी आज़ादी नहीं कि वह इनके अनुसार 'गैर-राष्ट्रवादी' विचार व्यक्त करे।

असहिष्णुता इस तथाकथित संगठन के स्वभाव का अंग है। तीन बरस पहले दिल्ली की एक जानी मानी भाषाविद् ने सरकार प्रमुख के अंदाज का चिह्न शास्त्रीय विश्लेषण किया। वह एक अकादमिक लेख था। जब एक पत्रिका में वह छपा तो उन पर गालियों की जो बौछार हुई, उससे वे बिलकुल घबरा गईं।

अगर लोग सिर्फ यह कह रहे हैं कि भारत में असहिष्णुता बढ़ रही है, तो मानना चाहिए कि वे एक सामान्य सार्वजनिक शिष्टाचार का पालन कर रहे हैं। वे सिर्फ नाम लेकर नहीं बता रहे कि यह असहिष्णुता सत्ता की सुरक्षा पाने के बाद इस तथाकथित संगठन परिवार में कई गुना बढ़ गई है और अब वे बिना झिझक इसका प्रदर्शन भी कर रहे हैं। वे यह सोचते हैं कि समझदार यह जानते ही हैं।

ऐसा नहीं कि इसके पहले यह असहिष्णुता नहीं थी लेकिन अब उनकी हिम्मत शायद इसलिए बढ़ गई है कि 'सैंया भए कोतवाल, अब डर काहे का!'

दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग पर पत्थरबाजी और उसके अध्यक्ष के साथ हाथापाई इसलिए कि ए.के. रामानुजन का लेख वह क्यों पढ़ा रहा है, दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय में एक गोष्ठी में बोलने आए अध्यापक एस.ए.आर. गीलानी पर हमला और उन पर थूकना निश्चय ही न तो भद्रता है न सहिष्णुता। यह सब तब था जब यह तथाकथित संगठन केंद्र में सत्ता में न था। अब जब उसकी सरकार है तो उसके किसी एक सदस्य के वक्तव्य का क्या सन्देश दूसरे सदस्यों के लिए हो सकता है, क्या यह समझना कठिन है?

राहुल पंडित ने यह भी ठीक लिखा है कि ऐसा नहीं कि और किसी मुल्क में ऐसे असहिष्णु तत्त्व नहीं हैं या भारत में ही कोई पहली बार पैदा हुए हैं। लेकिन उनके होने के बावजूद निजाम की ओर से भरोसा होता है कि उन्हें माहौल पर हावी होने न दिया जाएगा, कि देश के हर फर्ज की कीमत देश के लिए है, कि किसी समुदाय की संख्या बढ़ने से देश को कोई ऐतराज नहीं। जब यह भरोसा निजाम न दे पा रहा हो, तो अपने बारे में सोचना उसे है, उन लोगों को नहीं जिन्हें असुरक्षा का अहसास हो रहा है। जो डर रहा है, उसे ही अपराधी घोषित कर देना और उस पर हमला बोल देना अगर चरम असहिष्णुता नहीं तो और क्या है!

कोई देश या समाज पूरी तरह न तो सहिष्णु होता है न पूरी तरह असहिष्णु होता है। ऐसे तत्व उसमें हमेशा होते हैं जो खलल पैदा करें। जब ऐसे तत्व हाशिए पर न रह कर सत्ता में आ जाएं तो असुरक्षा होना स्वाभाविक है। मुसलमानों पर कब्जे की इच्छा लेकर स्वर्गगामी होने वाले लोग पहले जीवित ही थे और मुसलमान उन्हें सह ही रहे थे, लेकिन उनके गोलोकधाम सिधारने पर जब राष्ट्र का मुखिया उन्हें श्रद्धांजलि देने लगे और उसे भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणास्रोत बताने लगे तो मुसलमान क्या सोचें!

इसलिए अब लिहाज छोड़कर कहने कि ज़रूरत है कि असहिष्णुता का स्रोत यह संगठन विशेष है और जब तक वह सत्ता पर काबिज रहेगा, देश के बड़े हिस्से में असुरक्षा रहेगी ही। और यह भी कहने की ज़रूरत है कि यह संगठन भारत नहीं है, उसे यह गलतफहमी तुरत दूर कर लेनी चाहिए। भारत उसके हवाले नहीं किया जाएगा। आमिर खान हो या शाहरुख खान या नयन तारा सहगल या सारा जोसफ, सब भारत में रहेंगे और उसकी असहिष्णुता का विरोध करते रहेंगे।■

मनोज कुमार श्रीवास्तव

विचारशील लेखक के तौर पर ख्याति। गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार। कविता के संसार से अलग, उनका गद्य विचार जगत की गहराईयों में जाता है। अपनी परम्परा से निरंतर संवाद करता इनका लेखन आधुनिकता के प्रचलित मुहावरों से भी बाहर जाता है। प्रकाशित कृतियां : कविता संग्रह - 'मेरी डायरी से', 'यादों के संदर्भ', 'पशुपति', 'स्वरांकित' और 'कुरान कविताएँ'। 'शिक्षा के संदर्भ और मूल्य', 'पंचशील वंदेमातरम्', 'यथाकाल' और 'पहाड़ी कोरबा' पर पुस्तकें प्रकाशित। 'सुन्दरकांड' के पुनर्पाठ पर दस खण्ड प्रकाशित। दुर्गा सप्तशती पर 'शक्ति प्रसंग' पुस्तक प्रकाशित। सम्प्रति : १९८७ संवर्ग के भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी।

सम्पर्क : shrivastava_manoj@hotmail.com

व्याख्या

निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई। करि माया नभु के खग गहई।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।
गहइ छांह सक सो न उड़ाई। एहि विधि सदा गगनचर खाई।
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा।

समुद्र में एक राक्षसी रहती थी। वह माया करके आकाश में उड़ते हुये पक्षियों को पकड़ लेती थी। आकाश में जो जीव जंतु उड़ा करते थे, वह जल में उनकी परछाई देखकर उस परछाई को पकड़ लेती थी, जिससे वे उड़ नहीं सकते थे। इस प्रकार वह सदा आकाश में उड़ने वाले जीवों को खाया करती थी। उसने वही छल हनुमानजी से भी किया। हनुमान ने तुरंत ही उसका कपट पहचान लिया। पवन पुत्र धीरबुद्धि हनुमान जी उसे मारकर समुद्र के पार गए।

पहले शुभकामना। फिर परीक्षा। अब वास्तविक चुनौती। यह एक जल-राक्षसी है जो छायाग्राही है और पक्षियों को/आकाश-गामियों को खा जाती है। क्या हम इस तरह की सिंधुवासी राक्षसी का सतही अर्थ ही लें या जूडिथ हालबर्सटम की तरह यह मानें कि Monsters are meaning machines. कि राक्षस एक अर्थ-यंत्र हैं। (Skin Shows : Judith Halberstam) इसलिये यह निशिचरी भी किसी अर्थहीन तरीके से इस कथाक्रम में नहीं आई। तुलसी की तुलना में वाल्मीकि ने इसके अर्थ को डि-कोड करने के लिये ज्यादा संकेत दिये हैं। हम अभी उन संकेतों की चर्चा करेंगे, लेकिन उसके पहले राक्षसों के बारे में जाइजेक की एक बहुत ही महत्वपूर्ण टीप पर आपका ध्यान आकर्षित करना उपयोगी होगा- 'The analysis that focuses on the ideological meaning of monsters overlooks the fact that, before signifying something, before serving as a vessel of meaning, monster embody enjoyment qua the limit of interpretation, that is to say, nonmeaning as such' अर्थात वह विश्लेषण जो दैत्यों के विचारधारात्मक अर्थ पर एकाग्र है, इस तथ्य की अवहेलना करता है कि कुछ मतलब लगाने से कहीं पहले, अर्थ का पात्र बनकर सेवा करने से कहीं पहले, दैत्य एक तरह का आनन्द भी हैं- व्याख्या की सीमा से पार जाने का यानी अर्थमुक्ति का आनंद। इसलिए व्याख्या का उन्माद हर जगह प्रेय नहीं है। कथाक्रम में ऐसे मुकाम भी आते हैं जब कविता अर्थ-राहित्य का भी लालित्य रचती है। दैत्य-कथाएं वह एक आनंद भी हैं। सिंहिका प्रसंग कथापट पर एक नाट्य प्रस्तुत करता है। यह हनुमान के सामने आ रहे संकटों को दृश्य बनाता है, लेकिन उसी के साथ-साथ यह प्रसंग बहुत 'कोडेड' शब्दावली में भी है। इस कूटलेखन का उन्मीलन अपने आप में रोचक है। प्रायः दैत्य हमें बहुत कुछ प्रदर्शित सा करते लगते हैं। Demon हैं तो demon-strate भी करेंगे। लेकिन तात्कालिक दृश्यता के पार दैत्य कथाओं के रूपक अर्थ की बहुत सी परतें लेकर चलते हैं। क्या समुद्र की यह राक्षसी हमारे अंदर के किसी अतल (subterrarean depths) की प्रतीक है जो शुभ कर्मों का विरोध करती है? क्या यह अर्जुन की एंटीथीसिस-सी कुछ है जो पानी में परछाई देखकर लक्ष्य-संधान कर लेता था और 'जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं' देखकर अपना शिकार करती है? क्या इसका विवरण पढ़कर एकदम नहीं लगता कि यह 'निसिचरि' ठीक उस वैम्पायर जैसी है जिसके मेटाफर को कार्ल मार्क्स ने भी व्याख्यायित किया था। कार्ल मार्क्स को यह उस

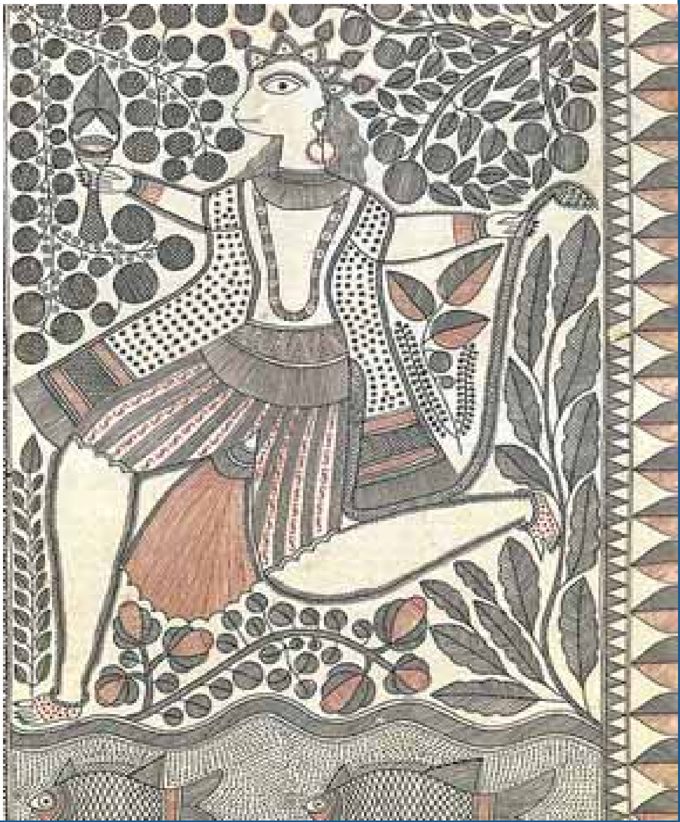

> *वाल्मीकि के यहां एक 'अद्‌भुत जीव' के इस तरह मारे जाने पर कहीं एक ग्लानि-बोध भी है जिसे वे यह कहकर कम करने की कोशिश करते हैं कि 'विधाता ने ही उसे मार गिराने के लिये हनुमानजी को निमित्त बनाया था।' सिंहिका के मारे जाने पर हनुमान को वाल्मीकि के यहां 'आकाश में विचरने वाले प्राणियों का साधुवाद भी मिलता है।'*

पूंजी की तरह लगा था जो श्रमिकों का भक्षण करती है। अपनी पुस्तक 'पूंजी' के अध्याय १० में उन्होंने कहा कि capital is dead labour, which, vampire-like, lives only by sucking living labour, and lives the more, the more labour it sucks. कि पूंजी एक मृत श्रम है जो किसी वैम्पायर की तरह जीवित श्रम को चूस कर जिंदा रहती है और जितना यह श्रम को चूसती है उतना ज्यादा जीती है। यह 'निशिचरी' भी इसी तरह खा जाती है। कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा : "The capitalist devours the labour-power of the worker, or appropriates his living labour as the life-blood of capitalism ...... By incorporating living labour-power into the material constituents of capital, the latter become an animated monster." पूंजीवादी आदमी मजदूर की श्रम-शक्ति को निगल जाता है, या उसके जीवित श्रम को पूंजीवाद के जीवन-रक्त की तरह विनियुक्त करता है। जीवित श्रम-शक्ति को पूंजी के भौतिक संघटकों में संवलित कर यह पूंजीवादी आदमी एक जीता जागता दैत्य हो जाता है।' क्या यह जीवित श्रम शक्ति वही है जो गगनचर से प्रतीकायित हुई? क्या पूंजीवादी इसे खा नहीं जाते? मुझे इस प्रसंग को पढ़कर स्टीफन सोमर्स की फिल्म 'डीप राइजिंग' की याद आती है। साउथ सीज में फिल्माई गई यह मूवी एक ऐसे समुद्री दैत्य के बारे में है जो लोगों को खा जाता है। जॉन गुलाजेर की फिल्म 'फीस्ट' (महाभोज) के दानवों के बारे में वह वाक्य दर्शकों में कैसी सिहरन पैदा करता था- 'दे आर हंग्री, यू आर डिनर' (वे भूखे हैं और तुम भोजन हो)। जीपर्स क्रीपर्स-II नामक एक फिल्म में एक ऐसा ही नरभक्षी दैत्य है प्रत्येक २३ साल के बाद अपनी भूख मिटाने के लिए सतह पर आता है। उस फिल्म में एक वाक्य था- 'ही कैन टेस्ट योर फीअर' (वह तुम्हारे भय का आस्वाद ले सकता है)। माइकेल डेविस की सन् २००३ में आई फिल्म 'मोंस्टर मैन' की टैगलाइन थी- 'ऑन दिस हाइवे, द रोडकिल इज ह्यूमन।' हनुमान को अपने आकाशीय हाइवे पर यह राक्षसी मिलती है जिसका शिकार आदमी है। इस महापथ पर दुर्घटना सिर्फ 'गगनचर खाई' के रूप में है। 'फीस्ट' के दैत्य की तरह यह निशिचरी भी हनुमान को डिनर बनाना चाहती है, लेकिन जीपर्स क्रीपर्स-II की तरह वह इतनी भाग्यशाली नहीं कि हनुमान के भय का आस्वाद ले सके। यह निशिचरी जो रामकथा में आती है, सिर्फ मनुष्यों का नहीं बल्कि पक्षियों (गगनचर खाई) का भक्षण करती है।

इस प्रारंभिकी के साथ हम तुलसी और वाल्मीकि के द्वारा वर्णित इस sea-monster के विविध पहलुओं पर बात करेंगे। वाल्मीकि ने इस sea-monster का नाम सिंहिका बताया है। तुलसी ने उसे कोई नाम नहीं देकर 'निसिचरि एक' से काम चलाया है। वाल्मीकि ने उसे इच्छानुसार रूप धारण करने वाली कहा है, तुलसी इस बारे में चुप्पी मार गए हैं। दोनों ही इस राक्षसी की एक विशेषता का विस्तृत विवरण देते हैं- वह है उसकी छाया ग्राहिता। वाल्मिकि के अनुसार हनुमान को उसे देखकर सुग्रीव के द्वारा समुद्र में ऐसी छायाग्राही राक्षसी के अस्तित्व के बारे में बताना याद आता है : 'उस विकराल मुख वाली राक्षसी को देखकर पवनकुमार हनुमान सोचने लगे- वानरराज सुग्रीव ने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्‌भुत जीव की चर्चा की थी, वह निःसंदेह यही है।' तुलसी ने कोई सुग्रीव-संदर्भ नहीं दिया है बल्कि यह कहा है कि 'तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।' वाल्मीकि के यहां उस राक्षसी के द्वारा कारित हनुमान का क्षणिक विषाद् भी दिखाया गया है, तुलसी ने उसे स्थान नहीं दिया है। वाल्मीकि के यहां- 'अपने हृदय में ऐसा सोचकर उस राक्षसी ने हनुमान जी की छाया पकड़ ली। छाया पकड़ी जाने पर वानरवीर हनुमान ने सोचा- अहो! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़ के सामने मेरा पराक्रम पंगु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा चलने पर समुद्र में जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गई है?' तुलसी ने हनुमान के इस क्षणिक अवसाद को कोई तवज्जो नहीं दी है। वाल्मीकि के यहां फिर वही मुख का बढ़ना, हनुमान का लघु रूप धारण कर उसके मुख में गिरना, भीतर जाकर अपने तीनों नखों से उस राक्षसी के मर्मस्थानों को विदीर्ण कर वेगपूर्वक बाहर आना विस्तार से वर्णित है। तुलसी ने चीन्हने के तत्काल बाद 'ताहि मारि' के दो शब्दों से काम चला लिया। मुंह के बढ़ने फैलने और हनुमान के छोटे हो जाने से बाहर निकल आने का रूपक पूर्व में सुरसा प्रसंग में प्रयुक्त किया जा चुका है। तुलसी उसे फिर वापरने में रुचि नहीं दिखाते। वाल्मीकि के यहां एक 'अद्‌भुत जीव' के इस तरह मारे जाने पर कहीं एक ग्लानि-बोध भी है जिसे वे यह कहकर कम करने की कोशिश करते हैं कि 'विधाता ने ही उसे मार गिराने के लिये हनुमानजी को निमित्त बनाया था।' सिंहिका के मारे जाने पर हनुमान को वाल्मीकि के यहां आकाश में विचरने वाले प्राणियों का साधुवाद भी मिलता है।' 'कपिवर। तुमने यह बड़ा ही भयंकर कर्म किया है, जो इस विशालकाय प्राणी को मार गिराया है। अब तुम बिना किसी विघ्न बाधा के अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध करो। वानरेन्द्र! जिस पुरुष में तुम्हारे समान धैर्य, सूझ, बुद्धि और कुशलता- ये चार गुण होते हैं, उसे अपने कार्य में कभी असफलता नहीं होती। इस प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने से उन आकाशचारी प्राणियों ने हनुमान जी का बड़ा सत्कार किया।' तुलसी के हनुमान को कहां विश्राम कि वे गगनचरों का रिसेप्शन अटेंड करें। उनकी बधाइयां बटोरें। तो तुलसी ने इस साधुवाद प्रसंग को गोल कर दिया है। वैसे भी हनुमान अपने प्रभु से ही साधुवाद लेंगे, इन लोकलाइज्ड कृतज्ञता ज्ञापनों से उन्हें क्या?

यह बात देखने की है कि हनुमान को सुर और असुर दोनों का

सामना करना पड़ता है। सुर परखते हैं तो असुर वास्तविक संकट का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुर की ओर से सुरसा और असुर यह सिंहिका। सुरसा को हनुमान के हाथों प्रणाम मिलता है, इस निशिचरी का हनुमान के हाथों प्राणान्त होता है। सुरसा के मूल में स्वस्ति थी, लेकिन इस राक्षसी के मूल में शठता। सुरसा नेकनीयत और पाकदिल थी, यह राक्षसी कुचाल और कारसाजी से भरी हुई थी।

इस राक्षसी और सुरसा दोनों ही के रूप में स्त्री के ही दो भिन्न रूपों को सामने लाया गया। एक माता के समान स्त्री जो पुत्र को परेशानी में भी डालती है तो उसकी पुष्टि के लिये और दूसरी यह पिशुन स्त्री जो धूर्त और दुमर्नस्क है। ग्रीक मिथकों में वर्णित मेड्यूसा नामक राक्षसी है जिसका एक दृष्टिपात आदमी को पत्थर की तरह जड़ बना सकता है। उसी तरह यह राक्षसी है जो लोगों की छाया पकड़कर उन्हें जड़ और गतिहीन कर देती है। यहां ब्रैंडोटी की वह पंक्ति याद आती है कि The female body shares with the monster the privilege of bringing out a unique blend of fascination and horror. कि स्त्री शरीर और दैत्य में एक समानता है कि दोनों में आतंक और आकर्षण का एक अद्वितीय मेल है। लेकिन ब्रैंडोटी की तरह यहां राक्षसत्व का कोई लिंगीकृत विश्लेषण अप्रासंगिक होगा क्योंकि यह निशिचरी अपनी सेक्सुअलिटी का किसी भी तरह से स्थापन करती नहीं बताई गई है। मेड्यूसा की ही तरह पाइथन राक्षसी भी है जिसका डेल्फी पर अपोलो नामक ग्रीक देवता संहार करता है। स्फिंक्स भी उसी तरह से खून की प्यासी है, जैसे यह निशिचरी। भारत में यों तो राक्षसों की संख्या बहुत है, लेकिन कुछ राक्षसनियां भी हैं। ताड़का, कैकसी, कुंभीनसी, पूतना, शूर्पणखा, सिंहिका आदि। वैसे भारत में सद्‌भावी राक्षसियां भी हैं। त्रिजटा, मंदोदरी, सुलोचना, विनता, वृंदा, सरमा, हिडिम्बा इसी सदाशयी राक्षसनियों के वर्ग के भीतर आती हैं। सिंहिका वह क्रूरकर्मा राक्षसी है जो अपने तरह से शिकार करती है। सुरसा नभ से आई थी, सिंहिका नभचरों का शिकार करती है। सुरसा, सिंहिका और लंकिनी के रूप में हनुमान के सामने तीन स्त्री चुनौतियां आती हैं। आकाश, जल और स्थल के तीनों आयामों पर। हनुमान तीनों से उत्तीर्ण होकर ही लंका में प्रवेश कर पाते हैं।

अधिकतर अनुभव यह क्यों रहा है कि राक्षस या दैत्य प्रायः रात को ही हंट करते हैं, प्रायः डार्क में ही रहते हैं। उन्हें निशाचर या तमचर संस्कृत में कहा ही गया। 'वरवोल्स' भी रात्रि के ही रक्तपिपासु प्राणी हैं। अपनी जिंदगी के भयावह अनुभवों या कल्पनाओं को हम आज भी नाइटमेअर्स ही बोलते हैं। १९६६ में एक फिल्म आई थी- 'द नेवी एंड द नाइट मोंस्टर्स।' उसमें अंटार्कटिका की ओर एक वैज्ञानिक अभियान ऑपरेशन डीप फ्रीज आरंभ होता है। वे कुछ असामान्य से दिखने वाले पेड़ों की प्रजातियां ढूंढ निकालते हैं। जल्द पता लगता है कि वे पेड़ तो रात में सक्रिय होने वाले हत्यारे और अम्ल उगलने वाले दैत्य हैं। एरिक हैडॉक की भयावह कल्पना 'मोंस्टर्स ऑफ द मून' भी उस दैत्य के बारे में हैं जो धूप से घृणा करता है और रात में अत्यन्त भीषण और शक्तिशाली हो उठता है। अरेबियन नाइट्स में तो ऐसे

दक्षिण पूर्वी देसी अमेरिकियों में ऐसे सर्पाकार समुद्री दैत्य की कथा चलती है जिसे वे 'वाटर-पैंथर' कहते थे और जो समूचे आदमी को निगल जाता था। १८७७ में ओकलोहामा में मिले एक विशालकाय प्राणी के ढांचे के बारे में यह शंका व्यक्त की गई थी कि वह यही 'वाटर-पैंथर' था।

अनजान स्थानों और दैत्यों की कहानियां हैं ही। १९८१ की अमेरिकी 'हॉरर नाइट' की टैगलाइन थी- 'प्रे फॉर डे।' इन निशाचरों के सामने भी यही होता होगा- लोग दिन के लिये प्रार्थना करते होंगे। जॉन न्यूलैंड द्वारा निर्देशित फिल्म 'डोंट बी अफ्रेड ऑफ द डार्क' भी अंधेरे के आतंक की फिल्म है। २००७ की फ्रेंच एनीमेशन फिल्म 'फीयर्स ऑफ द डार्क' भी अंधेरे के भयों पर बनी है। तुलसी इसीलिए इस राक्षसी के लिये निशिचरी शब्द का प्रयोग करते हैं।

दक्षिण पूर्वी देसी अमेरिकियों में ऐसे सर्पाकार समुद्री दैत्य की कथा चलती है जिसे वे 'वाटर-पैंथर' कहते थे और जो समूचे आदमी को निगल जाता था। १८७७ में ओकलोहामा में मिले एक विशालकाय प्राणी के ढांचे के बारे में यह शंका व्यक्त की गई थी कि वह यही 'वाटर-पैंथर' था। जापान में ऐसे विचित्र दैत्याकार प्राणियों को 'काइजू' कहते हैं। वहां गॉडजिला, मोथरा, रोडान जामेरा जैसे कई प्राणी हैं। मोथरा एक स्त्री दैत्य है। १९५३ में एक फिल्म बनी थी 'द बीस्ट फ्रॉम २०,००० फैदम्स'। सिंहिका की तरह इस फिल्म का मोंस्टर भी गहरे जल के अतल में (शीतनिद्रा में १०० मिलियन साल से) सोया हुआ है। आर्कटिक सर्कल में एटम बम के परीक्षण से वह जाग जाता है और न्यूयार्क सिटी पर कहर बरपा देता है। मैगालोडोन (२००२) फिल्म में उत्तरी अटलांटिक में एक विशाल ऑइल रिग बनाई जा रही है और समुद्र के बहुत भीतर तक खोदा जा रहा है। इससे समुद्र तल की फॉल्ट लाइंस फट जाती हैं और एक mirror ocean दीख पड़ता है जो लाखों सालों से सामान्य समुद्र के नीचे छुपा हुआ था। तब उनका सामना होता है इतिहास के सबसे खूंखार समुद्री दैत्य मैगालोडोन से। होमर ने केरिब्डिस को एक ऐसी समुद्री राक्षसी बताया था कि जो अपनी सांस से जहाज को खींच लेती है। उसी की एक दूसरी समुद्री राक्षसी साइला छः सिर वाली सर्पिणी है जो पास से गुजरते छः जहाजों से छः लोगों को खींचकर खा जाती थी। तुलसी की यह समुद्री राक्षसी छाया को खींचकर अपना शिकार करती है।

लेकिन छाया को अवरुद्ध करके जीवों को अवरुद्ध करने का यह रूपक क्या है? यह छाया है क्या? सुमित्रानंदन पंत ने पल्लव में छाया के बारे में कहा था : 'कहो, कौन हो दमयंती सी/तुम तरु के नीचे सोई? हाय! तुम्हें भी त्यागा क्या/अलि! नल सा निष्ठुर कोई?' लेकिन यहां तो छाया को त्यागा नहीं जा रहा बल्कि उसे पकड़ा जा रहा है और उसका अवरोध कर खगों को खाया जा रहा है। क्या यह वही छाया है जिसके बारे में भारत की सांस्कृतिक परंपरा के, नवयुग में सबसे प्रतिनिधि हिन्दी कवि जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि 'अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।' क्या इस छाया के अवरोध से सिंहिका अपने हित साधती है।

हमारी परम्परा में छाया को सूर्य की पत्नी कहा गया है। अरुणप्रिया और सूर्याणी 'निशिचरी' की दुश्मनी सूर्य पत्नी से होगी ही, उसकी दुश्मनी आन्तर स्पर्श और भाव समर्पण से होगी ही। राबर्ट लुई स्टीवेंसन की एक कविता है - 'मेरी छाया' जिसमें वह कहते हैं : I have a little shadow that goes in and out with me/And what can be the use of him is more than I can see. यह छाया हमारी साथी है। यह छाया जब प्रकाश ज्यादा होता है तब ज्यादा गहरी होती है। राक्षसी की दुश्मनी प्रकाश से है, अतः छाया से भी है। छाया को पकड़कर वह जीव को निरूपाय कर देती है। इस बिन्दु पर प्राचीन ग्रीस के गीतकार कवि पिन्डार के शब्द याद आते हैं- मनुष्य छाया के स्वप्न हैं- Men are the dreams of a shadow. इसलिए छाया का पकड़ा जाना जीव का पकड़ा जाना है।

यहां सिंहिका छाया को पकड़ रही है और वहां देसी अमेरिकन विश्वासों में छाया-पुरुषों की बात कही गई है, शैडो पीपुल की जो कभी पकड़े नहीं जाते। कुछ विचारकों का कहना है कि छाया-पुरुष एक 'थॉटफार्म' का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि हमसे भी अलग 'एक और यथार्थ' (अदर रियलिटी) है जिसका 'आयाम' कभी-कभी हमारे आयामों से ओवरलैप कर जाता है। वे अस्तित्व के एक-दूसरे ही तल (plane) पर मौजूद हैं। चार्ल्स ब्रायन ने 'शैडो बिइंग्स' में इन लोगों को हमारे मल्टीवर्स (खगोल) को बनाने वाले समानान्तर संसारों के बीच फंस गए लोगों की तरह देखा है जो हमारे संसार में भौतिक रूप से रह नहीं सकते और सिर्फ छाया-रूपों में दीख पड़ते हैं। क्या सिंहिका जीवों के साथ-साथ रहने वाले उस 'थॉट फार्म' को पहले पकड़ती है? क्या वह जीव के इर्द-गिर्द मौजूद प्रभामंडल को- कान्तिमयी छाया को- पकड़कर जीव को असहाय बना देती है? हर व्यक्ति के साथ एक छायामूर्ति होती है। कवि त्रिलोचन ने अपने एक सॉनेट में कहा है - 'जल के हिल जाने पर जैसे तल की छाया/ हिलने लगती है वैसे ही मेरे मन के/हिल जाने पर मेरा छाया पुरुष गगन के/प्रभा-लोक में हिलने लगता है। समझाया/ तुमने मुझे मर्म जीवन का- मैंने पाया/तुम जल हो मैं निहित बिम्ब हूं, उड़ते घन के/प्रतिबिम्बों पर सुस्थिर, तार हृदय के खनके/साँस साँस से जीवन जग कर आगे आया।' सिंहिका को संभवतः इस छाया पुरुष को नियंत्रित करने और उसके माध्यम से व्यक्ति को काबू में करने की तकनीक मालूम है। हर प्राणी के आसपास मौजूद 'इलेक्ट्रो-फोटोनिक ग्लो' को पकड़ने की प्राविधिकी। येल के शरीर विज्ञान के प्रोफेसर हैराल्ड सैक्सटन बर प्राणियों के इर्द-गिर्द रहने वाली 'L-field' की बात करते थे, एक बायो-इलेक्ट्रिक फील्ड की, एक लाइफ-फील्ड जिसमें सकारात्मक तरीके से हस्तक्षेप कर जीव के विकास, मूड व स्वास्थ्य में बेहतरी लाई जा सकती है और नकारात्मक तरीके से हस्तक्षेप कर सिंहिका प्राणियों को मार भी सकती है। प्रो. हैरॉल्ड के बहुत नियंत्रित परिस्थितियों में किये गये इन प्रयोगों का आज तक खंडन नहीं हुआ। वे इसे इलेक्ट्रो-डायनेमिक फील्ड कहते थे। सिंहिका जीवों की ऊर्जा और सक्रियता को खंडित करती है, सबसे पहले इस फील्ड पर काबू पाकर। यह फील्ड एक तरह की बाहरी परिधि (outward circumference) है। जिसे समय-समय पर अनेक वैज्ञानिकों ने अलग-अलग तरह के नाम दिये हैं। रूपर्ट शेल्ड्रेक ने इसे मार्फिक फील्ड कहा है : There is a field within and around a morphic unit which organizes its characteristic structure and pattern of activity. वेदों के आधार पर शेल्ड्रेक ने 'Akashic records' (आकाशीय अभिलेखों) की चर्चा की। ध्यान दें कि सिंहिका को 'गगन' के प्रति केन्द्रित कहा गया है। तुलसी जैसा सावधान कवि इसी पर जोर देने के लिये 'नभु के खग' शब्द का प्रयोग करता है। खग तो होते ही आकाशचारी हैं, एमू, कीवी, पैंग्विन, शुतुर्मुर्ग जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर। लेकिन आकाशिक फील्ड पर बल देने के लिये 'नभु के खग', 'जे गगन उड़ाही' और 'गगनचर' जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। आकाश जिसे महाशून्य कहते हैं। ध्यान दें कि हनुमान अभी सुरसा को पार कर आ रहे हैं। सुरसा का एक अर्थ संस्कृत में आकाशगंगा भी है। सिंहिका इस soniferous ether को विचलित करती है। हनुमान जब उस पर विजय प्राप्त करते हैं तो 'आकाशचारी प्राणी' प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि किसी किस्म के एस्ट्रल प्रोजेक्शन के जरिए सिंहिका उस 'आकाशिक अभिलेखागार' में, उस यूनिवर्सल कम्प्यूटर में, अस्तित्व के उस अभौतिक तल में खलल डाल रही थी। ध्यान दें कि वाल्मीकि ने कहीं भी पक्षियों को खाने का जिक्र नहीं किया है, प्रसन्नता के संदर्भ में उन्होंने पक्षी शब्द का इस्तेमाल न करके 'आकाशचारी प्राणी' शब्द का इस्तेमाल किया है। वे किसी चिड़िया भर की बात नहीं कर रहे हैं। यह राक्षसी कोई चिड़ीमार नहीं है। तुलसी 'जीवजन्तु' शब्द को काम में लाते हैं, पखेरू शब्द को नहीं। तुलसी ने भी जानबूझकर खग शब्द का ही प्रयोग किया है। खग यानी 'ख' (आकाश) में 'ग' (गमन) करने वाला। यह 'छाया' या 'प्रभामंडल' या 'फील्ड' जो आकाश में स्थित हैं; इसकी अपनी बायो-इनर्जेटिक्स है। हनुमान की इस फील्ड को पकड़े जाने पर हनुमान का अनुभव जैसे इस जैव-ऊर्जायन से रहित हो जाने का अनुभव है : 'अहो! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़ के सामने मेरा पराक्रम पंगु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा के चलने पर समुद्र में जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गई है।' यानी सिंहिका हनुमान के 'vital principle' को दुष्प्रभावित करती है। एर्विन लाज्लो ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड द आकाशिक फील्ड' में इसे 'ए-फील्ड' कहा है। भारतीय योगी इसे ही 'प्राण' कहते थे, यह प्राण आकाश में ही स्पन्दित है। इसे लाज्लो ने कास्मिक माइंड (जागतिक

> *वाल्मीकि ने कहीं भी पक्षियों को खाने का जिक्र नहीं किया है, प्रसन्नता के संदर्भ में उन्होंने पक्षी शब्द का इस्तेमाल न करके 'आकाशचारी प्राणी' शब्द का इस्तेमाल किया है। वे किसी चिड़िया भर की बात नहीं कर रहे हैं। यह राक्षसी कोई चिड़ीमार नहीं है। तुलसी 'जीवजन्तु' शब्द को काम में लाते हैं, पखेरू शब्द को नहीं।*

मन), यूनीवर्सल कांशसनेस (खगोलीय चेतना), जीरो-पाइंट इनर्जी (शून्य-बिंदु ऊर्जा) के रूप में व्यक्त करने की कोशिश की है। अथर्ववेद में इसी प्राण को नमस्कार किया गया है- 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे; जिसके अधीन यह सब कुछ' है, उस प्राण को नमस्कार है। इसे ही जाबालोपनिषद में प्राणायामेन साक्षात् प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः (६/१६) कहा गया कि प्राणायाम से प्रत्यक् ज्योति का- शुद्ध आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। वॉन रीखेनबाख ने अपने प्रयोगों के दौरान पाया कि विद्युत, चुंबकीयता और ऊष्मा की तरह एक और शक्ति है जिसे सभी जीव विकिरण करते हैं और उसने इसे 'ओडिक फोर्स' का नाम दिया। फ्रांज मेस्मर ने जीवों (animate beings) के शरीर में मौजूद एक 'ईथरीअल मीडियम' का जिक्र किया जिसे उसने 'एनीमल मैग्नेटिज्म' (जीव-चुम्बकीयता) के रूप में देखा। सिंहिका मैग्नेटोसेप्शन में निपुण है, वह जैसे कीलित करके रख देती है- 'गहइ छांह सक सो न उड़ाई'- ध्यान रहे कि पक्षियों में मैग्नेटोसेप्शन की शक्ति सबसे ज्यादा होती है। सिंहिका उनसे भी प्रबल है और गति, दिशा, अक्षांश व लोकेशन ढूंढ़ने की उनकी चुंबकीय क्षेत्र शोधन क्षमता को स्तम्भित कर देती है। थियोसोफिस्ट ने प्राणियों के 'एस्ट्रल डबल' की बात की थी। लगता है, सिंहिका इसी का जड़ीकरण करती है। मेड्यूसा नामक ग्रीक सर्प-राक्षसी की निगाह जिस पर पड़ती थी, वह पत्थर हो जाता था। यही सिंहिका करती है। एक तरह की जामिंग। एक तरह का जमना। पहले कीलित करती है, फिर किल करती है।

हनुमान नहीं कीलित होते। वे प्राणों के प्राण पवनदेव के पुत्र हैं। वे ही इस राक्षसी के मायाचक्र को तोड़ने में सर्वाधिक सक्षम हैं। वे रूद्रावतार हैं, तो उनके 'लिंग-शरीर' को कौन पकड़ सकता है? प्राण के इस आयाम से वे अच्छी तरह परिचित हैं। वे तो जैसे को तैसा जवाब देते हैं। सिंहिका प्राणियों के 'आभामंडल' को, उनकी प्राण-शक्ति को, उनकी छायाभा को प्रभावित करती है तो हनुमान के बारे में वाल्मीकि कहते हैं : 'हनुमानजी ने प्राणों के आश्रयभूत उसके हृदयस्थल को नष्ट कर दिया, अतःवह प्राणशून्य होकर समुद्र के जल में गिर पड़ी।' हनुमान को इसीलिए 'ताहि मारि' के तत्काल बाद तुलसी ने मारुतसुत कहा है। आखिरकार वायु को प्राण या प्राणयोनि संस्कृत में कहा ही गया है। वायु पुत्र ही इस सामर्थ्य से सम्पन्न हैं कि वे इस राक्षसी के मायाचक्र को वैसे ही तोड़े जैसे यह राक्षसी जीवों के आभाचक्र को तोड़ती है। हनुमान के पास इसकी प्रकृत शक्ति है जबकि सिंहिका माया करती है, कोई ट्रिक करती है- 'करि माया नभु के खग गहई', कुछ करती है। हनुमान के पास ज्ञान है, सिंहिका के पास विज्ञान है।

किसी जालंधरी विद्या का। कोई शांबरी संप्रयोग। कोई अभिमंत्रण। कोई और तरह का, लेकिन प्रयोग। इसे कोई स्तंभनी विद्या जरूर आती है। उसके माध्यम से यह उस स्थिति को सिद्ध करती है जिसे 'स्तोभ' कहा जाता है। एक विजड़न की स्थिति। एक तरह का कुंठन। उसके सहारे वह उड्डयनशील प्राणियों को स्तब्ध करती है, खगाखेट करती है। वह कोई मंत्र ही हो जरूरी नहीं। वह यंत्र भी हो सकता है। कोई मशीन जिसके सहारे वह व्योमगामी प्राणियों का बंधन कारित करती है। तुलसी ने 'करि माया' में 'करि' पर बल देकर यह जताया है कि यह कोई स्वाभाविक चीज नहीं है, इंजीनीयर की गई है। वैसा करके वह आकाशविहारियों को हिरासत में ले लेती है। उसकी गिरफ्त के पीछे कोई 'विधि' है। तुलसी उसे 'एहि विधि' के रूप में संकेतित भी करते हैं। वह कोई उपाय है, कोई जतन जुगत है जो पहले 'करि माया' से भी इंगित किया गया है। कोई तकनीक, कोई प्रणाली, कोई संक्रिया, जिसके जरिए इस तरह का कीलन संभव हो पाता है, जिसके जरिए यह मैग्नेटोसेप्शन सिर्फ एक रिसेप्शन ही नहीं रहता है, एक डिसेप्शन भी हो जाता है। 'गहई' में रिसेप्शन (ग्रहण) को सूचित किया गया है। 'सोई छल' में डिसेप्शन को। हनुमान को गाड पर भरोसा है, इस राक्षसी को फ्राड पर। 'माया', 'छल' और 'कपट' ये तीन शब्द इस राक्षसी के शस्त्र के रूप में वर्णित किए गये हैं। एक बहुत घिस चुकी सी बात है कि आप सबको मूर्ख बनाते हमेशा नहीं रह सकते। कभी न कभी कोई न कोई तो मिल ही जायेगा जो आपके प्रपंच में नहीं पड़ेगा। हनुमान वैसे ही एक शख्स की तरह आ जाते हैं। हनुमान के बारे में तो तुलसी बहुत पहले बता चुके : 'कालनेमि कलि कपट निधानू/नाम सुमति समरथ हनुमानू।' तो हनुमान कपट पहचानने में सर्वथा समर्थ हैं। पलटू साहब कहते थे : 'पलटू मैं रोवन लगा, हेरि जगत की रीति/जहूं देखो तहँ कपट है, कांसो कीजै प्रीति।' समुद्र-संतरण के बीच में सुरसा ने प्रारंभ में थोड़ा-सा छल किया था। लेकिन वारिधि के इस किनारे तो छल ही छल है। लेकिन हनुमान इस राक्षसी की चक्रिका को, उसके फंद फरेब को, उसके कूटचक्र को तुरत पहचान जाते हैं। उन जैसे 'मतिधीरा' को चकमा देना मुमकिन ही नहीं। उन पर इस राक्षसी का स्पैल नहीं चलता। उसकी वशिमा असर ही नहीं करती। बाद में मेघनाद से सुंदरकांड में भिड़ते समय भी ऐसा होता है। 'उठि बहोरि कीन्हेसि बहुमाया/जीति न जाइ प्रभंजन जाया।' (तुलसी जब माया शब्द को कपटाचरण के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं तो उसके 'करि' या 'कीन्हेसि' जैसे क्रियावाची शब्द लगाते हैं। जब माया को 'प्रकृति' के अर्थ में, ईश्वर की विभूति के अर्थ में इस्तेमाल करते हैं तब ऐसा नहीं होता। तब तो 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' या 'माया कटक प्रचंड' या 'सो माया बस भयउ गोसाईं' या 'माधव असि तुम्हारि यह माया' जैसे प्रयोग हैं।) हनुमान का निग्रह यह राक्षसी कर नहीं सकती। मारुतसुत को वह क्या दम दिखाए? क्या दमपट्टी करे उनसे? हनुमान उसके यंत्राविष्टन में नहीं आते। उन्हें अवसन्न करने में इस राक्षसी का कोई अभिचार काम नहीं आता। पर्शियन पुराकथाओं में भी एक ऐसे 'एवर स्टेशनरी' स्थान का जिक्र आता है जिसमें सब जड़ीभूत हो जाता है, लोग चित्रलिखित से खड़े रहते हैं। वायुवेगधारी हनुमान उसे अतिक्रान्त कर जाते हैं। यह पार करना राक्षसी को मारे बिना संभव नहीं था। हनुमान इतने सारे खगों की जान बचाने के लिये इस राक्षसी को मारते हैं।

छाया का संबंध कलाकारी से, सृजनात्मकता से रहा है। प्लिनी ने कहा कि चित्रकला तब जन्मी होगी जब आदमी की छाया के किनारे-किनारे आदिमानव ने किसी आउटलाइन को ट्रेस करना चाहा होगा। प्लिनी के बाद एक अन्य लेखक एथेनागोरस ने शिल्पकला को भी किसी दीवार पर उभरी छाया से प्रेरित आरंभ के रूप में प्रस्तावित किया। लिओन बेटिस्टा अल्बर्टी ने, आश्चर्य नहीं कि, अपनी पुस्तक 'डे पिक्चरा' (१४३५) में नार्सिसस को चित्रकला का आविष्कारक बताया था और उसके फूल में परिणत हो जाने की कथा का अर्थ भी यही लगाया था कि चित्रकला सभी कलाओं का पुष्प है। क्विन्टिलियन ने उसके भी बहुत पहले सूर्य के द्वारा बनाई गई छायाओं को पेंटिंग की प्रेरणा का सबसे शुरूआती बिंदु बताया था। बार्टोलोम म्यूरिलो की १६६०-६५ की तैल कैनवास पर बनाई गई पेंटिंग, जिसका शीर्षक ही है : "चित्रकला की उत्पत्ति", छायाओं की इसी संघटना पर है। छाया जब कला या कविता में आती है तो वह अनुभव को अमर बनाती है। यह राक्षसी तो छाया पकड़कर जीव को उड़ने में सर्वथा

> यदि गगनचर शब्द को एकदम सीमित कर सिर्फ पक्षी के अर्थ में ही रखा जाए तो हनुमान खगों की इस 'किलिंग स्प्री' पर रोक लगाते प्रतीत होते हैं। पक्षियों के इस लगातार हो रहे संहार पर। किन्तु क्या आज हम पक्षियों के संहार को इतिहास की तीव्रतम गति में होता हुआ नहीं देख रहे।

असमर्थ बना देती है। एक चट्टान चट्टान नहीं रह जायेगी यदि कोई उस पर कुहनी टिकाकर उड़ने लगे। तब वह खजुराहो की मुग्धा हो जायेगी या मीनाक्षी मंदिर का यक्ष। छाया शरीर नहीं है। यह शरीर का 'अन्य' है या उसका डबल। वह कोई दृष्टि भ्रम नहीं है, बिम्ब है। कविता में छाया सिर्फ ऐन्द्रिक संवेदन को सघन नहीं बनाती बल्कि कवि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्य को भी एक मानसिक घटना में बदलती है। वह 'आदतन' को 'अभिनव' में बदल देती है, एक नये प्रकाश में हम उन्हीं चीजों को चकित होकर देखते हैं। छाया शरीर से पृथक नहीं है, वह उसका प्रतिफल है। कविता में छाया भाव के संग आती है, एक अन्तःक्रिया में। वह भाव की फोटो मात्र नहीं है। निशिचरी जब छाया पकड़ती है तो क्या वह कला का निषेध नहीं है? क्या इमेज से ही इमेजिनेशन नहीं बनी होगी जो आकाश में उड़ती है पंछी होकर? क्या यह राक्षसी कल्पना की उड़ान की विरोधी है? कहाँ तो एक वह अति कि नार्सिसस 'जल बिलोकि' अपनी ही छाया के प्रेम में पड़ गया और कहाँ यह छाया को ही जकड़ लेने वाली निष्ठुरता? यह राक्षसी उस तरह की "शैडो-कैचर" नहीं है जिस तरह से आजकल फोटोग्राफरों को कहा जाता है और इसी नाम से मैरिअन विगिन्स ने एडवर्ड एस. कर्टिस नामक प्रसिद्ध फोटोग्राफर की जीवनी भी लिख दी है - शैडो-कैचर। यह राक्षसी ट्रिक फोटोग्राफी नहीं करती बल्कि ट्रिक्स चलती है।

यदि गगनचर शब्द को एकदम सीमित कर सिर्फ पक्षी के अर्थ में ही रखा जाए तो हनुमान खगों की इस 'किलिंग स्प्री' पर रोक लगाते प्रतीत होते हैं। पक्षियों के इस लगातार हो रहे संहार पर। किन्तु क्या आज हम पक्षियों के संहार को इतिहास की तीव्रतम गति में होता हुआ नहीं देख रहे। मेडागास्कर की हाथी चिड़िया गायब हो चुकी है। किंग द्वीप और कंगारू द्वीप के एमू, लेब्राडोर बत्तख भी संहारी जा चुकी है और मारीशियन बत्तख भी। हिमालयन क्वेल खत्म हो गयी और न्यूजीलैंड की क्वेल भी। लैपविग अब जावा से ही नहीं, दुनिया से जा चुकी है और एस्किमो कर्ल्यू भी। रेड रेल जहां से सिधारी और सेंट हेलेना क्रेक भी। मेस्केरीन कूट खत्म हुई और बरमूडा नाइट हेरोन भी। चैथम द्वीप की पेंगुइनें नहीं बचीं और जमैका पेट्रेल का मर्सिया पढ़ दिया गया। सेंट हेलेना की बत्तख अब शेष नहीं है और वो 'यात्री कपोत' (पैसेंजर पिज़न) भी नहीं जो कभी दुनिया की सबसे कॉमन चिड़िया थी। एक झुंड में २.२ बिलियन चिड़ियाएं। इसे 'भोजन' के लिये काटकर खा गये लोग। डोडो जैसा सुंदर पक्षी उपनिवेशवाद ने निगल लिया। नार्फाक द्वीप का तोता 'काका' बाकी नहीं है, सेशल्स का तोता पाराकीट भी समाप्त। न्यूजीलैंड का 'हँसता उल्लू' अब रोने के लिये भी नहीं। मैक्सिको के इंपीरियल कठफोड़वा नष्ट हुए, हवाई के हनीक्रीपर्स भी। अरबी शुतुर्मुर्ग, इटैलियन ग्रे बैट्रिज और सिसली की काली फ्रेंकालिन का अता पता नहीं मिलता। इंडोनेशिया के तिमोर की 'कौकल' (कोकिल) अब नहीं है, कोरिया की समुद्री ईगल भी और सुमात्रा की बुलबुल भी।

भारत में भी गिद्ध पक्षी, गरुड़ और ग्रेड इंडियन बस्टर्ड जैसे बहुत से पक्षी लुप्तप्राय हैं। १२२५ विहग प्रजातियों में से ७८ लुप्त होने की कगार पर हैं इस देश में, जहां कभी जटायु को भगवान राम का स्नेह-स्पर्श मिला था और जहां हनुमान पक्षियों के संरक्षक की भूमिका में उतरे थे। आज की तारीख में दुनिया भर में २००१ तथा भारत में १३८ पक्षी-प्रजातियों ऐसी हैं जो अत्यन्त संकटग्रस्त से लेकर लगभग 'threatened' की श्रेणी में आती हैं। लंका के पास इस राक्षसी का होना यह बताता है कि लंका की ईको-सिस्टम बिगड़ रही है। पक्षी पर्यावरण के स्वास्थ्य के सबसे बड़े सूचक हैं। पक्षियों का चहचहाना सिर्फ हमें नींद से जगाने के लिए नहीं है बल्कि एक तरह की आश्वस्ति भी है कि अभी दुनिया का अंत नहीं हुआ है, अभी जिन्दगी में सौंदर्य बाकी है। अपनी समुद्री सीमा पर ऐसी पक्षी-घाती राक्षसी के पाए जाने पर भी लंका राज्य की तरफ से कुछ नहीं किए जाने से भी यह संकेत मिलता है कि रावण को परवाह ही नहीं है कि उसके बाहर ठीक-ठाक दिखते पर्यावरण में भीतर भीतर कितना घुन लग चुका है। अब बाहरी तौर पर भले ही बन-बाग-उपबन-वाटिका मिल जाएंगे, लेकिन बात कहीं बिगड़ती सी भी लग रही है। कहां कौलरिज का प्राचीन नाविक एक अल्बिट्रास के मारे जाने का अभिशाप भोगता और ढोता है और कहां यह "सदा गगनचर खाहिं" का दैत्यत्व? कहां तो एमिली डिकेंसन ने कहा : I hope you love birds too. It is economical, It saves going to heaven. पक्षी एक तरह का स्वर्गिक आनंद हैं, किन्तु रावणों को कहां फुरसत कि वे पनकुकरी या पनडुब्बा की अठखेलियां देखें, कि वे समुद्र काक या पनेवा की शरारतें जानें। बात उनकी उपेक्षा की नहीं, बात उनकी उस राक्षसी प्रवृत्ति की भी है कि जो सामुद्रिक चिड़ियाओं का शिकार करती रहती है। हमारी परंपरा में पनतिरी चिड़िया को शिवहंस कहा गया, बगुले को सरोत्सव, हंस को विधिवाहन। ये जलपक्षियों के प्रति संस्कृति का सम्मान था। यहां थैंक्सगिविंग के लिए टर्की पक्षी को रोस्ट नहीं किया जाता था। अमेरिकन टी.वी. पर शेफ फिलिप कोरिक बारह पक्षियों को एक साथ रोस्ट करते हुए दिखाई देते हैं। फ्रांस में १९वीं शती की शुरुआत में एक शाही भोज में १७ चिड़ियाओं की रोस्टिंग करके 'रोटी सैन्स पेरेल' (रोस्ट विदाउट ईक्वल) परोसा गया था। रोटी रोटी का फरक है। रोटी ही नहीं जैसा हमने ऊपर कहा, यह सम्मान पक्षियों के नाम से भी दिखता था। कोयल को गंधर्व कहना और मैना को कांदबरी कहना एक पोएटिक संस्कृति थी। अंतर्राष्ट्रीय पक्षी विज्ञानी कांग्रेस तो अभी पिछले १५ साल से यह कोशिश कर रही है कि अंग्रेजी में पक्षियों के असम्मानजनक (offensive) नाम बदले जाएं। हनुमान द्वारा इस राक्षसी को मारना भी उनके रामकाज का हिस्सा है। जो राम जटायु को गति देते थे, उनके भक्त हनुमान वह स्थिति कैसे सहन कर सकते हैं कि पक्षियों की गति ही रुक जाए। उन्हें खा लिया जाए रोस्ट करके या बिना रोस्ट किए। हनुमान पर्यावरण-पुत्र हैं। यहां उनकी पर्यावरण-रक्षा के दायित्व को दिखाया गया है। आगे हम उनका पर्यावरण-प्रेम देखेंगे।■

कामिनी कामायनी

मैथिली और हिन्दी की प्रसिद्ध लेखिका। हिन्दी कविता संग्रह- प्रत्यंचा, मैथिली काव्य संग्रह- उपालंभ तथा भारतीय जीवन मूल्य पुस्तक प्रकाशित। रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। आकाशवाणी से आलेख प्रसारित। आकाशवाणी से संबद्ध रहीं। लेखक के तौर पर अनेक देशों की यात्राएँ कीं।

सम्पर्क : jk_kamayani@yahoo.in

कविता

तुम कहते हो

तुम कहते हो तो जी लूँगी
अग्नि, पर्वत, गह्वर, खाई
बरगद, पीपल, ताड़ और काई
चढ़ी जहां से फिसल गई फिर
रोज-रोज की जिल्लत पाई।

ऊब गया संसार से दिल जब
भाग रही थी साँसें आगे
तड़प रही थी जल बिन मछली
जलती धूप, सुलगती धरती
नंगे पाँव होश खो बैठे।

कर न सके विराम मगर वो
चलने को तैयार रहे थे
चलती लेकर जहां मुसाफिर
कठपुतली थी जाने किसकी।

मूक, बधिर-सी बढ़ती जाती
छोड़ रहा था साथ जब तन का
मन को जबरन बांध रही थी
मगर एक पल ऐसा आया।

लगा नहीं अब कदम बढ़ेंगे
मगर बढाई थी मैं फिर भी
चट्टानों के पास गिरी थी
दूर खड़ा दरिया मुसकाया।

प्यास गले अवरुद्ध पड़ी थी
आए तुम सौगात लिए कुछ
कहा अमृत रस है पी लो
भूल जाओ पीछे के रस्ते
आगे का पल हँस कर जी लो
साथ रहूँगा हर पल तेरे
और नई एक जीवन पायी।
■

नीरज गोस्वामी

अगस्त १९५० को जम्मू में जन्म। अंतरजाल की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित। पेशे से इंजीनियर। अनेक विदेश यात्राएं कर चुके हैं। सम्प्रति - भूषण स्टील मुंबई में वाइस प्रेसिडेंट के पद पर कार्यरत।

सम्पर्क : neeraj1950@gmail.com

खुली आँखों से देखो तो, ये दुनिया खूबसूरत है

शायर जनाब डॉ. महताब हैदर नक़वी की किताब 'हर तस्वीर अधूरी' में उनकी शायरी के अनेक रंग दर्ज हैं। अलीगढ़ निवासी नक़वी साहब की शायरी पर उनके उस्ताद जनाब शहरयार साहब का असर साफ़ दिखाई देता है। शहरयार साहब के साथ और अब उनके रिटायरमेंट के बाद भी वो अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के उर्दू विभाग में बतौर लेक्चरर काम कर रहे हैं। नक़वी साहब अपनी शायरी का सारा श्रेय शहरयार साहब को ही देते हैं।

समन्दरों के किनारों की रेत पर अब लोग
बनायें और कोई चीज़ भी घरों के सिवा
परिंदे पूछ रहे हैं हवाओं से अब के
उड़ान के लिए क्या चाहिए परों के सिवा
हमारी नस्ल ने ऐसे में आँख खोली है
जहाँ पे कुछ नहीं बेरंग मंज़रों के सिवा

नक़वी साहब पिछले तीन दशकों से शेर कह रहे हैं। इनकी दो किताबें 'शब आहंग' और 'मावरा-ऐ-सुखन' प्रकाशित हो चुकी हैं। डायमंड पाकेट बुक्स के हम हिंदी में शायरी पढ़ने के शौकीन, एहसानमंद हैं जिन्होंने उनकी ग़ज़लों का हिंदी में ये पहला संकलन प्रकाशित किया है। संपादन का काम सरेश कुमार जी ने किया है। इस किताब में नक़वी साहब की एक सौ चालीस से ऊपर ग़ज़लें संकलित हैं जो पाठकों का मन मोह लेती हैं।

मेहरबाँ आज मुझ पर हुआ कौन है
तू नहीं है तो फिर ये बता कौन है
सब हिकायत-ऐ-माज़ी भुला दी गयी
तेरे ग़म को मगर भूलता कौन है

समकालीन उर्दू शायरी के आठवें दशक में उल्लेखनीय उपस्थिति दर्ज करवाने में जावेद अख्तर, निदा फ़ाज़ली, ज़ुबैर रिज़वी, अमीन अशरफ, शीन काफ़ निजाम, तरन्नुम रियाज़, आलम खुर्शीद आदि के साथ जनाब महताब हैदर नक़वी साहब का नाम भी लिया जाता है। उनकी शायरी में हमारे आज की समस्याएं, परेशानियाँ सुख-दुःख झलकते हैं, इसलिए उनकी शायरी हमें अपनी-सी लगती है। वो आज के बिगड़ते हालत को देख चिंतित भी हैं तो कहीं उसी में उन्हें उम्मीद की किरण भी नज़र आती है।

अपनी वहशत का कुछ अंदाज़ा लगाया जाए
फिर किसी शहर को वीराना बनाया जाए
पहले उस शोख़ को गुमराह किया करते हैं
फिर ये कहते हैं उसे राह पे लाया जाए

सुरेश कुमार ने किताब की भूमिका में लिखा है 'ज़िन्दगी को बेहतर बनाने के लिए जिन ख्वाबों की जरूरत होती है, उन्हें देखने के लिए नक़वी साहब एक वातावरण तैयार करने में लगे हैं। महज़ ख़्वाब देखना उनकी फितरत में नहीं है, व्यवहारिक धरातल पर वो उन्हें हकीक़त में भी बदलना चाहते हैं। उनकी ये कोशिश उनके अशआर में साफ़ दिखाई देती है।

> ज़िन्दगी को बेहतर बनाने के लिए जिन ख्वाबों की जरूरत होती है, उन्हें देखने के लिए नक़वी साहब एक वातावरण तैयार करने में लगे हैं। महज़ ख़्वाब देखना उनकी फितरत में नहीं है, व्यवहारिक धरातल पर वो उन्हें हकीक़त में भी बदलना चाहते हैं। उनकी ये कोशिश उनके अशआर में साफ़ दिखाई देती है।

दूर तक राह में अब कोई नहीं, कोई नहीं
कब तलक बिछड़े हुए लोगों का रस्ता देखूं
आँख बाहर किसी मंज़र पे ठहरती ही नहीं
घर में जाऊं तो वही हाल पुराना देखूं
रात तो उसके तसव्वुर में गुज़र जाती है
कोई सूरत हो कि मैं दिन भी गुज़रता देखूं

नक़वी साहब की यह किताब उनके विचारों को ठीक तरह से उजागर करती है। ■

औघड़ उवाच - कलियुग केवल नाम अधारा, सुमरि-सुमरि नर उतरहिं पारा। नाम की महिमा अपार है और इसी के भरोसे जीवन नैया पार लगेगी।

चेला - सत्य वचन महाराज। कल-कारखानों के इस युग में तुलसी बाबा की बात सोलह आने फिट बैठती है। 'काम न कर, काम कि फिकर कर, इस फिकर का तूँ, जहाँ-तहाँ जिकर कर' की तर्ज पर हरेक बंदा अपने कामों का गुणगान ही तो कर रहा है। अपनी सुना रहा है, अपने गुरु के गुण गा रहा है और बाकियों को गरिया रहा है। किसी भी तरीके से हो, अच्छा हो, बुरा हो, झूठा हो, सच्चा हो, तरीका कैसे भी हो पर नाम की चर्चा और चरित्र-चिंतन चलता रहे, बस इसी जुगत में लगे हैं लोग-बाग दिन-रात। सब अपने तारणहारों का नाम भज रहे हैं। कुछ तारणहार 'आउट आफ डेट' होने के भय से चेलों को अपना नाम उछालने के लिये उकसा रहे हैं। कुछ नित नये विवाद गढ़ रहे हैं तो कुछ गड़े मुर्दों को उखाड़ने के पावन कर्म में रत हो गये हैं। स्वर्ग जैसे हमारे देश में इतनी विविधता, इतनी रंग-बिरंगी सभ्यता है कि जिस भूसे में भी हाथ डालो वहीं से विवाद की सुई निकाली जा सकती है। गुजरे जमाने के पुंगे (नरपुंगव) गाते थे कि 'विविधता में एकता, हिंद की विशेषता'। अब उनके चेला-चांटी आम(पिलपिले)-आदमीनुमा मरियल लोगों को गरियाते हुए धौंस जमाते हैं और ललकारने के अंदाज में छप्पन इंची छाती ठोंककर उद्घोष करते हैं- 'साबित करने की बारी है, जिनको भारत माता प्यारी है।' दशा ये हो गई है कि छींकने-खांसने की बातों को मुद्दा बनाया जा रहा है। कोई यहाँ-वहाँ और न जाने कहाँ रहेगा, इसी को लेकर भाई लोग हलकान हुए जा रहे हैं। नाम की खड़ताल बजाने की ऐसी लत लग गई है ठलुओं को कि चैन ही नहीं पड़ता बगैर चिंतन किये। स्त्रैण बातें सत्ता के गलियारों से होती हुई राष्ट्रीय बहस का मुद्दा बन जाती हैं, जबकि रोटी-पानी के असली मुद्दे जाने कहाँ बिला जाते हैं, कोई नहीं जानता।

> *हरेकखोल की पोल उजागर होने को यों ललक रही है मानो 'बदनाम हुए तो क्या, नाम तो हुआ' का लक्ष्य हासिल करना ही परम पावन उद्देश्य हो गया है।*

औघड़ - कलियुग ने इस संसार में आते ही कहा था कि हमारे राज में जो प्रभु का नाम लेगा, उसकी मुक्ति निश्चित है। और तो और मन से सोचे गए पाप की हम सजा नहीं देंगे, पर मन से सोचे गए पुण्य का फल ज़रूर देंगे।

चेला- बस इसी का फायदा तो पढ़े-लिखे उठा रहे हैं। ऊपर-ऊपर वे गरिया रहे हैं और मन में लड्डू फूट रहे हैं कि विरोध दर्ज करने के एवज में मोदक गिरेगा गोदी में ज़रूर। मोदक कहाँ से आया इससे क्या फर्क पड़ता है। आम खाने में ही समझदारी है, गुठलियाँ गिनने के फेर में मूरख पड़ते हैं।

औघड़ - कलियुग के साथ उसके चार सेवक राग, द्वेष, ईर्ष्या और वासना भी इस संसार में आये थे।

चेला - और वे अब पूरी दुनिया पर छा गये हैं। संसारभर को लूट-लूट कर जिनने अपने खजाने भर लिये हैं, वे बड़े परोपकारी होने का दिखावा कर रहे हैं। इंसानी मौतों के सौदागर अपने पंथ को परम पवित्र बता रहे हैं। खजाने के रखवाले ही उसे चूना लगा रहे हैं। नंबर एक का यहाँ अब कुछ भी बाकी नहीं है गुरुदेव। सब कुछ दोयम दर्जे पर जाकर टिक गया है। मिलावट का बोलबाला हरेक जिंस में दिखाई देता है। वर्णसंकर रीति-नीति की ऐसी ख्याति चहुँओर फैल गई है कि सच्चे और सरल चलन से बाहर खदेड़ दिये गये हैं। जोर-शोर से प्रचार करते धर्म-ध्वजा के रक्षकों की कलई तक प्याज के छिलकों-सी उतर रही है। हरेकखोल की पोल उजागर होने को यों ललक रही है मानो 'बदनाम हुए तो क्या, नाम तो हुआ' का लक्ष्य हासिल करना ही परम पावन उद्देश्य हो गया है।■

atmaram.sharma@gmail.com